

ज्ञात के ज़रिये अज्ञात को समझने की तीसरी दृष्टि

संजय जोठे

महिषासुर-विमर्श और महिषासुर के बहाने भारत के पूरे मिथकशास्त्र पर विमर्श अब आगे बढ़ रहा है। यह निश्चित रूप से एक अच्छी बात है और इसके ज़रिये भारतीय संस्कृति और इसके अनछुए पहलुओं पर तार्किक जाँच पड़ताल आरम्भ हुई है। एक अन्य कारण से भी यह पड़ताल अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध होने जा रही है। इस पड़ताल के मूल में जो मौलिक प्रेरणा है वह फुले-आम्बेडकरी विचारधारा से निर्मित हुई है। इस अर्थ में यह भारत के अन्य पिछड़े वर्गों, दलितों और आदिवासियों के लिए एक ऐतिहासिक बहस है। महिषासुर के संबंध में पहला महत्त्वपूर्ण लेख प्रेम कुमार मणि ने लिखा था और महिषासुर-विमर्श को संगठित रूप से आरम्भ करने का श्रेय प्रमोद रंजन को जाता है जो उन्होंने इस दशक की शुरुआत में किया था। ये दोनों विचारक-लेखक स्वयं ओबीसी यानी भारतीय वर्ण व्यवस्था के अनुसार शूद्र पृष्ठभूमि से आते हैं। हम देखते हैं कि बाद के वर्षों में धीरे-धीरे यह विमर्श भारत के समस्त वंचित समुदायों की अभीप्साओं का केंद्र बनकर उभरने लगा है। इस एक तथ्य से यह भी उजागर होता है कि यह विमर्श किस शक्ति को संगठित और संचालित कर सकता है।

इस विमर्श या बहस को कई दृष्टियों से देखा जा सकता है। कुछ लोग इसे इतिहास के पुनराविष्कार के रूप में देखना–दिखाना चाहते हैं। कुछ लोग इसे मिथकों के माध्यम से इतिहास की खोज के रूप में देखते–दिखाते हैं। कुछ अन्य लोग इसे एक मिथक के विरोध में दूसरा मिथक खड़ा करने की अनावश्यक पहल के रूप में भी देखते हैं। लेकिन क्या इन दृष्टियों के परे भी कोई दृष्टि हो सकती है जो इस विमर्श की प्रासंगिकता और महत्त्व को और बेहतर ढंग से रेखांकित करती हो? यह प्रश्न इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि मिथकों के बहाने इतिहास की पड़ताल और इतिहास के बहाने मिथकों की पड़ताल को बहुत आसानी से तार्किक प्रश्नों और उपलब्ध अन्य विमर्शों की भीड़ में घसीट कर ख़त्म किया जा सकता है। इस बहस पर उठ रहे तार्किक प्रश्नों की संरचना और प्रेरणा पर ग़ौर करें तो यह होता हुआ नज़र भी आ रहा है।

इस सम्भावित और अपेक्षित प्रतिक्रिया पर कौन–सी मुद्रा अपनाई जाए? क्या इसे इतिहास का विमर्श बना कर एक इतिहासकार के रूप में इतिहास के आईने में महिषासुर और असुरों पर चर्चा की जाए? या एक मिथकशास्त्री के रूप में मिथकों के आईने में इतिहास की चर्चा की जाए? मेरा स्पष्ट मंतव्य है कि ये दोनों दृष्टियाँ पर्याप्त नहीं हैं और फुले–आम्बेडकरी दृष्टि से महिषासुर या असुरों या कोइतूर (गोण्ड आदिवासियों) के संबंध में जो स्थापनाएँ अब आ रही हैं उन्हें एक तीसरी और कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण दृष्टि से भी देखना होगा। यह तीसरी दृष्टि क्या है?

इतिहास में मिथक और मिथक में इतिहास के साथ ही एक अन्य तीसरी दृष्टि के तहत वर्तमान के आईने में मिथकों की व्याख्या से जन्मे मनोविज्ञान के आधार पर अतीत (अनिवार्यत: इतिहास नहीं) को समझने की कोशिश की जानी चाहिए। वह भी इसलिए ताकि उस अतीत में जन्मे शुभ–अशुभ को ठीक से पहचान कर हम अवांछित तत्त्वों के जन्म को भविष्य में स्थगित कर सकें। यह प्रयास और यह विकसित अंतर्दृष्टि हमें ज्योतिबा फुले और आम्बेडकर के लेखन में साफ़ तौर से नज़र आती है। इन दोनों ने मिथकों, मिथकीय चरित्रों और उनसे जुड़ी सामाजिक मान्यताओं का विश्लेषण जिस ढंग से दिया है वह अतीत के ज़रिये वर्तमान को नहीं बल्कि वर्तमान के ज़रिये अतीत को समझने का प्रयास है। यह एक वैज्ञानिक खोज का तरीक़ा है कि जो ज्ञात है उसके ज़रिये अज्ञात को समझा जाए, न कि किसी कल्पित या अज्ञात को एक उपलब्ध या उजागर ज्ञात का गर्भ बताया जाए। दूसरे शब्दों में यह प्रयास इस बात पर केंद्रित है कि ज्ञात इतिहास और ज्ञात मिथकशास्त्र में दिखने वाली संगतियों और असंगतियों से आगे निकलते हुए वर्तमान को कसौटी मानकर मिथक और इतिहास के अंतर्संबंधों को समझा जाए। ऐसी खोज ही किसी बृहत्तर शुभ का उपकरण बन सकती है जिसकी भारत के बहुजनों को आज बड़ी आवश्यकता है। इस स्पष्टीकरण के बाद अब हम मिथकों के बारे में हुई सर्वाधिक स्वीकृत खोजों और स्थापनाओं को देखकर उनके प्रकाश में वर्तमान भारत में प्रचलित मिथकों के वैशिष्ट्य और वैचित्र्य को देखेंगे, फिर इसके बाद महिषासुर–विमर्श पर उठ रहे प्रश्नों में क्रमश: प्रवेश करेंगे।

लेवी–स्त्रॉस की स्थापनाएँ और ब्राह्मणी मिथक

स्ट्रक्चरल एन्थ्रोपोलॅजी नामक रचना में मिथकों के अर्थ की प्रस्तावना करते हुए लेवी–स्त्रॉस कहते हैं कि मिथक एक तरह के संदेश से भरे होते हैं जिनमें सामूहिक चेतना के ज्ञान का प्रतिबिम्ब होता है। इस मान्यता पर उनके अपने विशिष्ट और आलोचनात्मक विचार भी हैं जिनके ज़रिये वे इन मान्यताओं से आगे जाते हुए मिथकों को कहीं अधिक वैज्ञानिक दृष्टि से और एक अन्य बृहत्तर समग्रता में देखने का आग्रह करते हैं। इसके बावजूद मिथकों को किसी समाज की देश या काल विशेष में निर्मित हुई सामूहिक चेतना का प्रतिबिम्ब या प्रतिनिधि मान भी लिया जाए तो भारत के ब्राह्मणी शास्त्रों में वर्णित मिथकों की इस दृष्टि से क्या व्याख्या हो सकती है? क्या अन्य सभ्यताओं–संस्कृतियों की

तरह ब्राह्मणी मिथक भी अपने समय की समूची सामूहिक चेतना का ईमानदार प्रतिनिधित्व करते हुए माने जा सकते हैं? यह एक ऐसा प्रश्न है जो लेवी-स्त्रॉस द्वारा उल्लिखित एवं सामान्यत: महत्त्वपूर्ण समझी गयी स्थापना की दृष्टि से ब्राह्मणी मिथकों को विशिष्ट और अनोखा बना देता है। सरल शब्दों में इसका यह अर्थ है कि क्या इन मिथकों के रचयिता ब्राह्मणों, जो जन्म, गुण, वर्ण, नातेदारी और कर्म के आधार पर स्वयं को शेष सामूहिकताओं से स्वयं ही अलग करते आये हैं, को और उनकी मिथकीय रचनाओं को समग्र समाज की सामूहिक चेतना का ईमानदार प्रतिनिधि माना जा सकता है?

लेवी-स्त्रॉस की यह स्थापना एक अन्य विशेष कारण से भी महत्त्वपूर्ण है। वे अपने विश्लेषण में मिथकों को भाषा (लैंग्वेज) सिद्ध करते हैं और इन्हें भाषा की तरह ही समझने की पद्धति निर्मित करते हैं। इस दृष्टि से भाषा की संरचना और इस संरचना-विशेष के निर्माण या बदलाव के आग्रह किसी स्थान या समय विशेष में किसी समाज के मिथकों की रचना के लिए एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व बन जाते हैं। यह भारत के लिए कुछ अधिक ही महत्त्वपूर्ण है क्योंकि आर्य-अनार्य संघर्ष के बाद में एक नयी भाषा— संस्कृत का जिस तरह विकास हुआ है उसमें प्राचीन भाषाओं, शब्दों और व्याकरणों को नये स्वरूप में ढालने का सचेतन और संगठित प्रयास हुआ है। इस बात को ध्यान में रखें तो हम समझ सकते हैं कि भाषाओं के इस संघर्ष ने भी भारतीय मिथकों विशेषकर ब्राह्मणी मिथकों को किस ढंग से आकार दिया होगा।

अमेरिकी लोक कथाओं के अध्येता फ्रांज़ बोआस कहते हैं कि मिथकों की दुनिया तोड़ने के लिए ही बनाई जाती है ताकि इनके अवशेषों से नयी दुनियाएँ बनाई जा सकें। इस गहन प्रतीति या प्रेक्षण को भारतीय इतिहास में आर्य-अनार्य एवं श्रमण-ब्राह्मण संघर्ष के साथ रखने पर देखें तो यह समझ में आता है कि ब्राह्मणी मिथकों ने निश्चित ही प्राचीन भारतीय श्रमण या अनार्य मिथकों में नये रंग भरे हैं। इसलिए यहाँ यह अनुमान लगाना व्यर्थ नहीं होगा कि अपना आधिपत्य बनाए रखने और अपनी विश्व-दृष्टि को वैध ठहराने के लिए उन्होंने इनका उपयोग भी किया होगा। ऐसा इसलिए भी अधिक सम्भव है क्योंकि आर्य संस्कृति के पूर्व जिन संस्कृतियों के मिथक और मिथक तत्त्व यहाँ मौजूद थे उनकी सैनिक पराजय के बाद सांस्कृतिक और धार्मिक पराजय को तय करने के लिए प्राचीन मिथकों को पुनर्परिभाषित करते हुए उनके ज़रिये जन-सामान्य के मनोविज्ञान को नियंत्रित करने की भारी आवश्यकता निर्मित हो चुकी थी। बाद के धर्मशास्त्रीय क़ानूनों और उनके पीछे छुपे आग्रहों से स्पष्ट होता है कि सिर्फ़ आर्य ब्राह्मणों को ही मिथकों सहित कर्मकाण्डों की रचना और व्याख्या का एकमात्र अधिकार दिया गया। इस व्यवस्था के केंद्र में भी पुन: ब्राह्मणी आधिपत्य को बनाए रखने की इच्छा समाई हुई है।

आगे लेवी-स्त्रॉस मिथकों की संरचना को समझाते हुए एक अन्य गहन टिप्पणी करते हैं। वे कहते हैं कि मिथकों को उनके निर्माता तत्त्वों के साथ रख कर एक समग्रता में देखा होगा तभी हम उसमें कोई वास्तविक अर्थ देख सकते हैं। उस मिथक को अलग से एक विशिष्ट या स्वतंत्र रचना की तरह नहीं देखा जा सकता।

अब अगर मिथक के निर्माता-तत्त्वों की बात करें तो इन तत्त्वों में बहुत-सी वे बातें शामिल होंगी जो शुभ-अशुभ की समझ को काल व स्थान विशेष में निर्मित कर रही हैं। साथ ही तत्कालीन दशाओं में सत्ता के संघर्ष और शक्ति-संतुलन के प्रयास एवं इन प्रयासों को किसी पक्ष विशेष के लिए वैध या अवैध ठहराने वाली विशिष्ट धर्म-दार्शनिक दृष्टि को भी एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व की तरह देखना होगा। इस बिंदु पर श्रमण और ब्राह्मण संघर्ष के दौर में एवं बाद के ब्राह्मणी आधिपत्य के उभार के दौर में ब्राह्मणी धर्मशास्त्रों की शुभ-अशुभ की प्रस्तावनाओं और लोक-परलोक के संबंध सहित विभिन्न मानव समूहों को भिन्न-भिन्न ढंग से परिभाषित करने वाले आग्रहों को भी महत्त्वपूर्ण तत्त्वों की तरह देखना और दिखाना होगा।

इसी बिंदु से भारतीय मिथकशास्त्र के अनोखेपन और भारतीय सभ्यता और समाज के उत्थान-पतन में उनकी विशिष्ट भूमिका की वास्तविक पड़ताल आरम्भ होती है। यह ऐतिहासिक रूप से सिद्ध हो चुका है कि ब्राह्मणों ने किस तरह रोटी-बेटी के संबंधों में अपने वर्ण हितों के रक्षण हेतु बदलाव किये और यह बदलाव किस तरह शेष समाज में संस्कृतीकरण (मूल शब्द ब्राह्मणीकरण) की प्रक्रिया से पहुँचे। एम.एन श्रीनिवास द्वारा समझाई गयी इस ब्राह्मणीकरण (बाद में संस्कृतीकरण) की प्रक्रिया को मिथकों के निर्माण और उनके प्रचार सहित उनके विशिष्ट संदेशों के सृजन के अर्थ में किस तरह देखा जाए? अगर ग़ौर से देखें तो साफ़ नज़र आएगा कि असल में ब्राह्मण अपने वर्ण-हित की रक्षा हेतु जिस तरह के कथानक और आख्यान रच रहे हैं वे कालांतर में रिसते हुए अन्य वर्णों और जातियों में प्रवेश कर रहे हैं। और इस प्रक्रिया की सफलता से उत्साहित होकर बाद के समय में ऐसे मिथकों के निर्माण और प्रचार की प्रक्रिया तेज़ हुई जा रही है। ऐसे में लेवी-स्त्रॉस के कथन को दुबारा देखें तो यह स्पष्ट होता है कि ब्राह्मणी मिथक असल में भारत के प्राचीन समाज की सामूहिक चेतना का वह प्रतिबिम्ब नहीं है जो स्वाभाविक रूप से नीचे से ऊपर की तरफ़ आ रहा है बल्कि यह वह प्रतिबिम्ब है जो एक वर्ण हित की रक्षा हेतु बलात् ऊपर से बना कर नीचे की तरफ़ भेजा जा रहा है।

इसका यह अर्थ हुआ कि ब्राह्मणी मिथक असल में शेष ग़ैर-ब्राह्मण समाज की सामूहिक चेतना को ब्राह्मणों के हित-साधन की दृष्टि से नियंत्रित करने का उपाय है। इसके स्पष्ट प्रमाण भी उपलब्ध हैं। ब्राह्मणी धर्मशास्त्रों और मिथकों में अपराध मुक्ति एवं पाप मोचन के जो उपाय बतलाए गये हैं वे ग़ौर करने लायक़ हैं। इन उपायों में पापी या उत्पीड़क और पीड़ित दोनों ही शामिल नहीं हैं, बल्कि उन दोनों को हटाकर अचानक से ब्राह्मण बीच में आ जाता है। उदाहरण के लिए किसी एक व्यक्ति ने दूसरे के प्रति कोई अपराध किया है तो पाप मोचन के जो उपाय दिये गये हैं उसमें पहला या दूसरा व्यक्ति किसी भी अर्थ में पाप मोचन की प्रक्रिया में शामिल ही नहीं है। बल्कि आश्चर्यजनक रूप से अपराधी को यह सलाह दी जाती है कि अपने पाप या अपराध से मुक्त होने के लिए वह एक ब्राह्मण या दस पाँच ब्राह्मणों को दान दे, भोज कराए या किसी तरह उन्हें प्रसन्न करके उनकी कृपा और आशीष प्राप्त करे। अब यह किस तरह का न्याय है? इसमें पीड़ित से कौन-सा न्याय हो रहा है? अपराधी और पीड़ित के बीच में एक ब्राह्मण के आने का क्या औचित्य है?

इस उदाहरण से साफ़ होता है कि अपराध, और दण्ड जैसी ठोस और मूर्त सामाजिक, नैतिक या न्यायगत धारणाओं को अगर इतने विचित्र तरीक़े से एक वर्ण विशेष के हित साधन की दृष्टि से 'धर्मसम्मत' तरीक़े से विकृत किया जा सकता है तो फिर दार्शनिक, तात्त्विक और मृत्यु पश्चात् के काल्पनिक जीवन के लिए रची गयी अमूर्त प्रस्तावनाओं का कितना शोषण इन शास्त्रों और इनसे जुड़े मिथकों के रचयिताओं ने किया होगा? अपराध, अपराधी और पीड़ित तो इसी जगत में सामने नज़र आते हैं, उनका क्षोभ और पीड़ा काल्पनिक नहीं हैं। उनकी वास्तविक पीड़ा को भी जब ब्राह्मणी षड्यंत्र का उपकरण बना लिया गया तब कल्पना कीजिए कि अमूर्त-सी धारणाओं जैसे कि परलोक, स्वर्ग-नरक, कर्म-सिद्धांत, पाप-पुण्य, मोक्ष आदि की रचना किस ढंग से किसके हितों के लिए की गयी होगी?

हमारे पास यह भी प्रमाण हैं कि मृत्यु पश्चात् के कर्मकाण्ड भी असल में ब्राह्मणवादी वर्चस्व को बनाए रखने के लिए ही रचे गये हैं। मृत्यु से जुड़े इन कर्मकाण्डों को हर पीढ़ी के मानस में मिथकों के सहारे ही उतारा गया है। श्राद्ध और तर्पण के पूरे कर्मकाण्ड पर ग़ौर कीजिए। वहाँ मृत व्यक्ति के मोक्ष के लिए ब्राह्मण को दान दिया जाता है। और एक बार दान दे देने से जो मोक्ष मिलता है वह आश्चर्यजनक रूप से अगले साल श्राद्ध पक्ष के आने से ठीक पहले स्खलित भी हो जाता है। अगले साल फिर से उसी व्यक्ति के मोक्ष के लिए फिर से श्राद्ध तर्पण दान इत्यादि करना होता है। और सबसे मज़ेदार बात यह कि इस बीच में पुनर्जन्म भी रोक दिया गया है। सालों साल एक मृत व्यक्ति का

श्राद्ध और ब्राह्मण भोजन भी चल रहा है और पुनर्जन्म का सिद्धांत भी चल रहा है। कोई यह नहीं पूछता कि अगर पुनर्जन्म सत्य है तो फिर सालों साल यह श्राद्ध किसके लिए किया जा रहा है?

श्राद्ध से जुड़ी मिथकीय कहानियाँ बनाने वाले ब्राह्मणों ने पूरे समाज की तर्कबुद्धि और कार्यकारण की समझ को हज़ारों साल तक कैसे रोके रखा? कैसे यह आसान से प्रश्न लोगों के मन में नहीं उठते कि अगर मृतक का पुनर्जन्म हो ही गया है तो श्राद्ध क्यों करें? क्या हर व्रत-त्योहार पर हर महीने होने वाली किसी कथा या मिथकीय प्रचार से इसका कोई संबंध है? हमारा उत्तर होगा कि ऐसा संबंध निश्चित ही वहाँ है। जब एक वर्ण विशेष के हित को ही धर्म बनाकर उसे मिथकीय कहानियों में परोसा जाता है तो समाज के इतिहासबोध, न्यायबोध और तर्कबोध के विकास की सम्भावना ही समाप्त हो जाती है। इसीलिए भारत विज्ञान, तकनीक और सामाजिक नैतिकता का विकास नहीं कर पाया।

भारतीय इतिहास-लेखन और इतिहास-दृष्टि की समस्याएँ

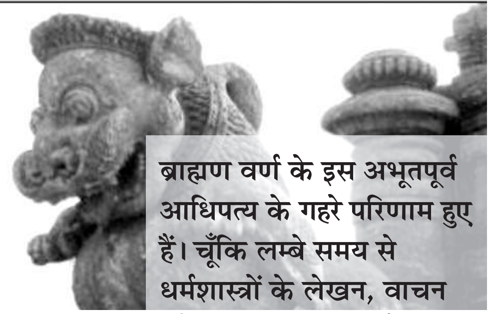
सामान्यत: इतिहास-लेखन और इतिहास की तटस्थ समझ के लिए कालक्रमानुसार इतिहास को ही अकादमिक जगत में महत्त्वपूर्ण माना जाता है। ऐसा इतिहास-लेखन हम पश्चिमी समाजों में पाते हैं और ऐसे इतिहास-लेखन एवं इतिहास-बोध से निर्मित समाज की सामूहिक स्मृति एक विशेष सामूहिकता का निर्माण करती है जो अंतत: किसी सामूहिक बदलाव की प्रेरणा और बदलाव के आंदोलन को जन्म देती है। विलियम जेम्स आदि इण्डोलॅजिस्ट भारतीय इतिहास-लेखन पर जिस तरह के आरोप लगाते हैं, उस तरह से भारत में इतिहास-बोध एकदम अनुपस्थित नहीं रहा है, बल्कि आधुनिक शोध से पता चलता है कि यहाँ इतिहास का संकलन अलग ढंग से हुआ है। समय की चक्रीय और रेखीय धारणाओं का प्रयोग करते हुए क्रमश: ब्राह्मणों और श्रमणों ने इतिहास-लेखन किया है। रोमिला थापर का नवीनतम शोध एक महत्त्वपूर्ण तथ्य उजागर करता है जो कि आम्बेडकर के प्रेक्षण से जुड़ता है। इसके अनुसार भारत में तीन तरह का इतिहास-लेखन हुआ है। पहला आरम्भिक समाजों और वंशों के कवियों और भाटों द्वारा वाचिक परम्परा के रूप में, जो कि उनकी याद्दश्त पर आधारित था और जो लोक कथाओं से होते हुए महाकाव्यों तक में विकसित हो सकता था। दूसरा, ब्राह्मणों द्वारा पुराणों में उपयोग की गयी वाचिक परम्परा जो कि राज दरबारों के लेखकों कवियों द्वारा इन राजाओं की सत्ता और स्वीकृति को बढ़ाने के लिए अतीत के बारे में उपलब्ध आख्यान को नियंत्रित करने के उद्देश्य से लिखी गयी थी। तीसरा, इतिहास-लेखन श्रमण परम्पराओं (जैन और बौद्ध) के मुनियों, भिक्खुओं और कवियों ने राज्य-संस्थापकों और उनके उत्तराधिकारियों के बारे में किया। इस लेखन में उन्होंने सचेतन रूप से ऐतिहासिक परम्परा को आरम्भ नहीं किया।[1]

रोमिला थापर द्वारा वर्णित इन तीनों तरीक़ों में पहला और तीसरा तरीक़ा सहज और स्वाभाविक रूप से न सिर्फ़ इतिहास को संकलित कर रहा है बल्कि स्वयं को लोक-स्मृति में बनाए रखने का स्वाभाविक और निष्पक्ष प्रयास भी कर रहा है। इन प्रयासों के पीछे किसी तरह की सचेतन राजनीतिक प्रेरणाएँ नहीं हैं जिन्हें विवादित या भिन्न इतिहास के कथानक का दमन करते हुए किसी तरह के 'सृजित इतिहास' को स्थापित करने के उद्देश्य से राजाओं और सत्ताओं का महिमामण्डन करना था। ऐसे महिमामण्डन की आवश्यकता सिर्फ़ ब्राह्मणी पुराण लेखन ने महसूस की। मिथकों की व्याख्या और उनकी संरचना को समझने के लिए यह तथ्य भारत में इतिहास-लेखन और इतिहास-बोध को प्रश्नों के घेरे में ला खड़ा करता है।

ये वही प्रश्न हैं जिन्हें फुले-आम्बेडकरी विचारधारा आजकल उठा रही है। इन प्रश्नों की और इनके औचित्य को सिद्ध करने की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि कालांतर में प्राचीन

[1] रोमिला थापर (2013).

जनजातीय समाजों और वंशों सहित श्रमणों की परम्पराएँ भी कमज़ोर होकर मुख्य धारा से अलग हो गयीं और भारत में मुख्य रूप से ब्राह्मणी पुराणों को ही इतिहास और इतिहास-बोध को निर्मित और प्रभावित करने का अवसर मिला। यहाँ उल्लेखनीय है कि ब्राह्मणी व्यवस्था में यह सुनिश्चित किया गया है कि राजसत्ता और धर्मसत्ता क्रमशः क्षत्रियों और ब्राह्मणों को ही मिलनी चाहिए, इसलिए अकसर ही या तो इन शासकों के पूर्वजों को ब्राह्मण-क्षत्रिय दिखाया गया है या फिर चंद्रवंश परम्परा में फेरबदल करके इन्हें उनसे जोड़ने का प्रयास किया गया है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि राजसत्ताओं ने ब्राह्मणी परम्परा से मिलकर न सिर्फ़ 'सुविधाजनक इतिहास' का सृजन किया है बल्कि वास्तविक और तथ्यात्मक इतिहास (वह जिस भी रूप में प्राचीन समय में उपलब्ध रहा हो) को भी योजनापूर्वक बदल दिया गया है। इस प्रकार जो इतिहास निर्मित हुआ है वह न सिर्फ़ अधूरा है बल्कि एक सभ्य समाज के लिए ख़तरनाक भी है। इसीलिए आधुनिक भारतीय चिंतकों में एक रवींद्रनाथ ठाकुर ने ऐसे मिथकीय इतिहास को तथ्यात्मक इतिहास से अलग रखने का आग्रह किया था। अमर्त्य सेन ने भी इस बात को अपनी किताब में नोट किया है।[2]



ब्राह्मण वर्ण के इस अभूतपूर्व आधिपत्य के गहरे परिणाम हुए हैं। चूँकि लम्बे समय से धर्मशास्त्रों के लेखन, वाचन और प्रचार पर इस वर्ण का एकछत्र अधिकार रहा है इसलिए वह धर्मशास्त्रों को सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक अनुशासनों का एकमात्र स्रोत बनाए रखने का आग्रह भी करता आया है। इसीलिए हम देखते हैं कि भारत में धर्मशास्त्र न केवल धार्मिक क़ानून और कर्मकाण्ड सिखा रहा है बल्कि वह अपनी सीमा से बाहर जाकर दर्शन और विज्ञान तक में हस्तक्षेप कर रहा है।

अब प्रश्न यह उठता है कि प्राचीन काल की तरह आधुनिक समय में भी रवींद्रनाथ जैसों की उपेक्षा करके ब्राह्मणी परम्परा पुराण या मिथकों के लेखन द्वारा मिथकीय चरित्रों और ईश्वर, देवता इत्यादि से जोड़ कर क्षत्रिय या ब्राह्मण शासकों को ही क्यों चित्रित व महिमामण्डित कर रही है? उनकी ऐसी क्या विवशता है? इसका सीधा उत्तर यही हो सकता है कि वे किन्हीं अन्य जातियों और जनजातियों के समृद्ध इतिहास की उपस्थिति से भयभीत थे/हैं और लोक-परम्परा, वाचिक परम्परा सहित पुरातत्त्व की खोजों में या प्राचीन मिथकों की नयी व्याख्या में उभर रहे इस इतिहास के सम्भावित सूत्रों को— धर्म के सम्मोहन, भयों, पुरस्कारों और अंधविश्वासों के सहारे —अदृश्य बनाए रखना चाहते थे/हैं। प्राचीन जनजातियों या आर्यों द्वारा विजित जातियों के मिथकों या कथानकों को अथवा इन मिथकों एवं कथानकों में प्रतिबिम्बित हो सकने वाले सम्भावित इतिहास को बदलने या मिटाने के इस ऐतिहासिक अभियान का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ है कि देश का बहुसंख्य वर्ग जो कि न तो ब्राह्मण है और न ही क्षत्रिय है, वह ब्राह्मणों, क्षत्रियों के इस इतिहास-लेखन की चिंताओं और विवरणों से बाहर ही हो गया है।

अब यहाँ एक अन्य बड़ा प्रश्न उठता है कि इन बहुसंख्यक जनों को अपने इतिहास सहित इतिहास मात्र के प्रति कैसे मूर्छित रखा गया? इसका उत्तर है देबीप्रसाद चट्टोपाध्याय के ग्रंथ *लोकायत* में मिलता है कि इस मूर्च्छा को मिथकों की निरंतर बदलती व्याख्याओं और उनमें नये ज्ञान-विज्ञान को निरंतर प्रक्षेपित करते हुए बनाए रखा गया है।[3] इसका फलित यह हुआ है कि प्राचीन मिथकों और उनके

---

[2] अमर्त्य सेन (2005) : 48.

[3] देबीप्रसाद चट्टोपाध्याय (1992).

संरक्षकों की सत्ता भी बनी रही और नवीन ज्ञान को प्राचीन में प्रक्षेपित करके एक झूठी आधुनिकता के बोध ने वास्तविक पुनर्जागरण या आधुनिकता या क्रांति को भी स्थगित किये रखा, इस तरह 'व्यवस्था' को बनाए रखा गया है। आगे बढ़ते हुए अब हमें इतिहास की बजाय मिथकों की सत्ता या 'व्यवस्था' को बनाए रखने की इस 'विवशता' को समझना आवश्यक है।

इतिहास की बजाय मिथक का वर्चस्व

भारत में मिथक क्यों आवश्यक माने गये और इनके ज़रिये ब्राह्मणी वर्चस्व या 'व्यवस्था' को येन-केन-प्रकारेण बनाए रखने की क्या विवशता थी इसका संकेत हमें आदि शंकर के कर्तृत्व में मिलता है। आदि शंकराचार्य द्वारा रचित ग्रंथों में जिस तरह का तर्क-बोध या न्याय-बोध मुखर हो रहा है उसका आधुनिक भारत के न्याय-बोध और इतिहास-बोध पर भी गहरा प्रभाव पड़ा है। भारतीय धर्मशास्त्रों का न्याय-बोध पश्चिमी समाज को आश्चर्यचकित करता रहा है। यहाँ उल्लेखनीय है कि ब्रिटिश राज के दौरान भारतीय धर्मशास्त्र के अनुसार स्त्रियों और अस्पृश्यों से किये जाने वाले व्यवहार पर अंग्रेज़ों को आपत्ति हुई थी।[4] इन धर्मशास्त्रों के संदर्भ में पी.वी. काणे नोट करते हैं कि आदि शंकर ने ब्रह्मसूत्र की व्याख्या करते हुए मनुस्मृति का बार-बार बहुत सम्मान से उल्लेख किया है [5] और ब्रह्मसूत्र की सत्यता और महिमा के पक्ष में जो तर्क दिये हैं उनमें एक तर्क यह भी है कि चूँकि मनु ने ब्रह्मसूत्रों को महान कहा है इसलिए ब्रह्मसूत्र एक महान ग्रंथ है। साथ ही वे यह भी लिखते हैं कि मनु ने जो कुछ भी कहा है वह औषधि के समान है। [6] इस पर देबीप्रसाद चटोपाध्याय एक स्वाभाविक-सा प्रश्न उठाते हैं कि शंकर को मनु की इतनी प्रशंसा करने की आवश्यकता क्यों हुई? क्या शंकर मनु के दार्शनिक होने के नाते दर्शन की गहन मीमांसा से भरे हुए 'वेदांत भाष्य' में उनका उल्लेख कर रहे हैं?[7] मनु दार्शनिक नहीं हैं बल्कि धार्मिक क़ानून के निर्माता हैं जिनके क़ानून न केवल सामान्य नैतिकता-बोध की दृष्टि से पिछड़े हुए हैं बल्कि भयानक रूप से एक वर्ग विशेष के पक्षपाती हैं। इसके बावजूद शंकर एक दार्शनिक होते हुए भी धर्मशास्त्र (धर्म क़ानून) बनाने वाले मनु का दार्शनिक विमर्श में न केवल एक महत्त्वपूर्ण स्रोत की तरह उपयोग कर रहे हैं बल्कि उनको महिमामण्डित भी कर रहे हैं।

यहाँ यह माना जा सकता है कि आदि शंकर के समय तक भारत में दर्शन, धर्म, धार्मिक क़ानून, रहस्यवाद आदि अलग नहीं हुए थे और उन्हें एक ही स्रोत से ग्रहण किया जा रहा था। हालाँकि यह दशा पश्चिमी समाज में भी रही है, लेकिन पश्चिमी पुनर्जागरण से इसमें बदलाव हुआ, और न केवल विज्ञान ने बल्कि दर्शन ने भी स्वयं को धर्म से अलग करते हुए लगभग एक विरोधी की भूमिका अपना ली थी। इसीलिए पश्चिम के दार्शनिक प्राचीन दार्शनिक परम्पराओं की जकड़ से स्वयं को मुक्त करके नये 'स्कूल ऑफ़ थॉट' निर्मित करते रहे हैं। इसके विपरीत मध्यकालीन और आधुनिक भारत के सभी सुप्रसिद्ध और प्रभावशाली दार्शनिक वेदांत के ही व्याख्याकार बने हुए हैं और वेदों, उपनिषदों और गीता में अपने नयी प्रस्तावनाओं की जड़ें दिखाने के लिए और आधुनिक विश्व द्वारा उत्पन्न और विकसित किये गये ज्ञान का वेद-वेदांत में ही प्रक्षेपण करने को बाध्य हैं। यह भारतीय संस्कृति और भारतीय ज्ञान-परम्परा के क्रम-विकास या पतन को समझने के लिए एक महत्त्वपूर्ण प्रेक्षण है। इसके तुरंत बाद जो प्रश्न उठता है वह यह है कि ऐसे अधूरे या अविकसित न्याय-बोध के समानांतर ब्राह्मणवादी परम्परा ने किस तरह का तर्क-बोध विकसित किया है? और इस तर्क-बोध का हमारे

---

[4] गैविन फ़्लड (2003) : 114.
[5] देबीप्रसाद चट्टोपाध्याय (1993) : 195. लेखक द्वारा उद्धृत.
[6] वही.
[7] वही.

इतिहास-बोध सहित इतिहास-लेखन ही नहीं बल्कि मिथकों में छुपे इतिहास या इतिहास में छुपे मिथकों को देखने की दृष्टि पर क्या प्रभाव पड़ा है?

भारतीय मिथक, इतिहास और तर्क-बोध

रोमिला थापर ने इतिहास और तर्क पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि इतिहास केवल सूचनाएँ भर नहीं होतीं जिन्हें कि एक से दूसरी पीढ़ी को यथावत सौंपा जाता है। ये ऐतिहासिक परिस्थितियाँ एक व्याख्या की माँग करती हैं और ये व्याख्याएँ उपलब्ध साक्ष्यों के विश्लेषणों पर निर्भर करती हैं जो कि अंततः बहस के मूल तर्क से उभर कर आ रहे निष्कर्षों का सामान्यीकरण प्रस्तुत करती है।[8] इसी संदर्भ में एक अन्य किताब में वे डी.डी. कोसांबी की टिप्पणी का उल्लेख करती हैं कि प्राचीन भारत के शुरुआती इतिहास-लेखन में एक यह समस्या रही है कि वह राजाओं को उनके कालक्रम के अनुसार जानने तक ही सीमित रहता।[9] इन दो वक्तव्यों को इस लेख के केंद्रीय विषय से जोड़कर देखें तो स्पष्ट होता है कि इतिहास न केवल तथ्यों के कालक्रमानुसार समुच्चय से परे भी बहुत कुछ होता है बल्कि उसका अपना एक विशिष्ट तर्क भी होता है जो आरम्भिक भारतीय इतिहास-लेखन में अनुपस्थित है। मूल रूप से यह तथ्य भारत में 'इतिहास के तर्क' से कम और 'तर्क के इतिहास' से ही अधिक जुड़ता है इसलिए अब हमें यह जानना ज़रूरी है कि भारतीय धर्मशास्त्रों में तर्क और तार्किक चिंतन के प्रति क्या मुद्रा अपनाई गयी है। इसका उत्तर हमें पुनः देबीप्रसाद चट्टोपाध्याय के शोध में मिलता है।

प्राचीन भारत में तर्क-बोध की पड़ताल करते हुए प्रोफ़ेसर दासगुप्ता और पी.वी. काणे के विश्लेषण को आधार बनाते हुए चट्टोपाध्याय स्पष्ट करते हैं कि प्राचीन वैदिक साहित्य में स्वतंत्र चिंतक के लिए 'हैतुक' शब्द का इस्तेमाल हुआ है और मनु की व्याख्या करते हुए मेधातिथी ने कहा है कि स्वतंत्र चिंतक (हैतुक) का सीधा अर्थ नास्तिक है। वहीं दूसरी तरफ़ कुल्लुक भट्ट इन हैतुकों की परिभाषा उन लोगों के रूप में करते हैं जो कि शास्त्रों की सत्ता के विरुद्ध तर्क का प्रयोग करते हैं। स्वयं मनु के लेखन में हैतुक, स्वतंत्र चिंतक, वेद निंदक और नास्तिक एक ही हैं।[10] हालाँकि इस तरह की परिभाषाएँ और विभाजन न सिर्फ़ हिंदू धर्म में बल्कि अन्य धर्मों में भी पाए जाते हैं। लेकिन एक बात जो प्राचीन हिंदू धर्म और नियो-हिंदुइज़्म या नव-वेदांत को विशिष्ट बनाती है वह है इन परिभाषाओं और विभाजनों को धारण किये हुए मिथकों का नये समय की आवश्यकता के अनुरूप श्रृंगार और प्रचार! इस बात को दुबारा फुले-आम्बेडकरवादी प्रणाली और दृष्टि के प्रकाश में देखें तो यह बात सही ठहरती है। आजकल के धर्माचार्यों और कथाकारों द्वारा हमारी आँखों के सामने ठीक यही किया जा रहा है और उनसे प्रेरणा लेकर टीवी, फ़िल्मों, म्यूज़िक एल्बम और विज्ञापनों तक में यह श्रृंगार और प्रचार पूरी तरह पसर गया है। इस प्रकार एक बार फिर वर्तमान से इतिहास की व्याख्या होने लगती है।

इस संक्षिप्त भूमिका के बाद अब हम यह देखेंगे कि ब्राह्मणवाद द्वारा न्याय-बोध और तर्क-बोध ही नहीं बल्कि इतिहास-बोध को भी कमज़ोर करने के इतने सुविचारित और संगठित प्रयासों का लक्ष्य क्या था? वह क्या था जिसे लक्ष्य बनाकर यह सब किया गया और आजकल भी किया जा रहा है? इस बड़े प्रश्न पर विचार करते हुए हमें पुनः फुले-आम्बेडकरी विचारधारा के प्रकाश में इसका उत्तर खोजना होगा— वह इसलिए क्योंकि किसी अन्य विचारधारा की तुलना में इस विचारधारा ने ब्राह्मणी आधिपत्य को समझने और समझाने का कहीं अधिक और तार्किक प्रयास किया है। और चूँकि इस

---

[8] रोमिला थापर (2003) : 31; iii.

[9] वही : 9. उद्धृत.

[10] देबीप्रसाद चट्टोपाध्याय (1993) : 185-189.

आधिपत्य को निर्मित करने, बनाए रखने और पुन: आविष्कृत करते रहने के क्रम में मिथकों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है इसलिए ब्राह्मणवादी आधिपत्य को इन मिथकों के स्वाभाविक सहयात्रियों के साथ विश्लेषित करना होगा। ये सहयात्री कौन हैं? ये सहयात्री हैं भारत का वर्तमान धर्म और इस धर्म से उपजा सामाजिक नियंत्रण का विराट तंत्र जो धार्मिक क़ानूनों, परम्पराओं, रूढ़ियों, अंधविश्वासों और शुभ-अशुभ की प्रस्तावनाओं के माध्यम से कार्य करता है।

ब्राह्मणी वर्चस्व के निहितार्थ

मिथकों के ज़रिये विचारधारा या धर्म विशेष के वर्चस्व को बनाए रखने के प्रयासों को उनकी समग्रता में समझने के लिए हमें भारतीय ब्राह्मणी धर्म की विचित्रता को भी समझना ज़रूरी है तभी हम इस धर्म द्वारा मिथकों के निर्माण और उपयोग की विशेष शैली और संगत लक्ष्यों का सार्थक अनुमान कर सकेंगे। इस क्रम में आगे बढ़ते हुए भारत में धर्म के स्वरूप पर विचार करते समय हमें मनुष्य या समाज के संदर्भ में सामाजिक, राजनीतिक नियंत्रण संबंधी अनुप्रयोग का अर्थ भी देखना उचित होगा। आम्बेडकर ने प्रोफ़ेसर विलियम स्मिथ का संदर्भ देते हुए समाज या मनुष्य को केंद्र में रखकर उत्पन्न हुए धर्म एवं भगवान की व्याख्या का विवेचन किया है।

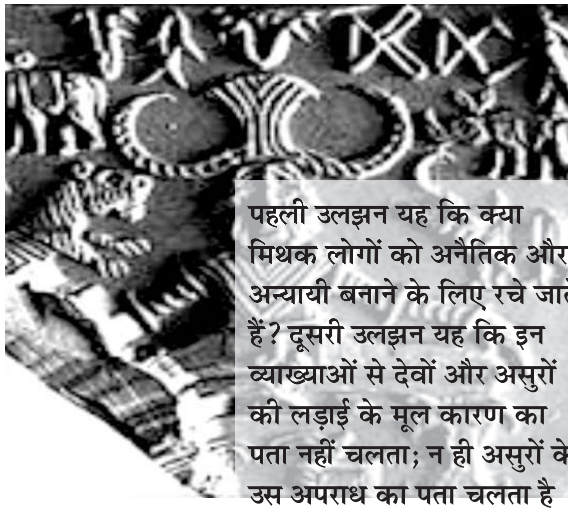
आम्बेडकर लिखते हैं कि धार्मिक आदर्श— दैविक अनुशासन (डिवाइन गवर्नेंस) के अर्थ में— दो श्रेणियों में आते हैं। पहली श्रेणी में समाज इसका केंद्र होता है और दूसरी में व्यक्ति केंद्र होता है। इन्हीं दो केंद्रीय सत्ताओं के हित की दृष्टि से शुभ-अशुभ की परिभाषा करते हुए समाज केंद्रित धर्म में उपादेयता (युटिलिटी) महत्त्वपूर्ण हो जाएगी और व्यक्ति केंद्रित धर्म में न्याय महत्त्वपूर्ण हो जाता है। लेकिन भारत का हिंदू धर्म इन दोनों में से किसी भी श्रेणी में नहीं आता। यह उपयोगिता अथवा न्याय से शासित होने के बजाय एक वर्ग विशेष— ब्राह्मण वर्ग— के हितों की चिंता से शासित होता है।[11] हिंदू धर्म के प्राचीन ग्रंथों में पापों के प्रायश्चित्त के उपाय के रूप उल्लिखित ब्राह्मण भोज और ब्राह्मण को दान देने के विश्वास को आज भी समाज में देखा जा सकता है। पाप, पुण्य और प्रायश्चित्त और पाप-मुक्ति या पुण्य-अर्जन सहित श्राद्ध की इस धारणा से आ रहे करणीय की प्रस्तावना में न तो व्यक्ति का हित सध रहा है न ही समाज का। इस प्रकार यहाँ कर्म विशेष की सामाजिक हित में उपादेयता और व्यक्ति हित में न्याय की सम्भावना— दोनों से परे जाकर हिंदू धर्म ब्राह्मण वर्ण का ही हित साध रहा है और उन्हीं के सामाजिक, राजनीतिक, और धार्मिक आधिपत्य को पीढ़ी-दर-पीढ़ी मज़बूत कर रहा है।

ब्राह्मण वर्ण के इस अभूतपूर्व आधिपत्य के गहरे परिणाम हुए हैं। चूँकि यह वर्ण लम्बे समय से धर्मशास्त्रों के लेखन, वाचन और प्रचार पर एकछत्र अधिकार रखता है इसलिए धर्मशास्त्रों को सामाजिक राजनीतिक और धार्मिक अनुशासनों का एकमात्र स्रोत बनाए रखने का आग्रह भी करता आया है। इसीलिए हम देखते हैं कि भारत में धर्मशास्त्र न केवल धार्मिक क़ानून और कर्मकाण्ड सिखा रहा है बल्कि वह अपनी सीमा से बाहर जाकर दर्शन और विज्ञान तक में हस्तक्षेप कर रहा है। सूदूर इतिहास में भी यह देखा जा सकता है कि आर्यभट्ट और सुश्रुत जैसे भारत के पुराने वैज्ञानिक और अन्वेषक भी धर्मसत्ता के दबाव में अपनी खगोल और आयुर्वेद संबंधी वैज्ञानिक खोजों को धर्मशास्त्र की पुराण दृष्टि के अनुसार रखने को विवश हुए थे।[12] भारत में धर्म की इस अधिनायकशाही को देख कर प्रश्न उठता है कि क्या ऐसा होना आवश्यक था? क्या पश्चिम में भी धर्म ने यही सब किया है? इसका उत्तर हमे बर्ट्रेंड रसेल की टिप्पणी में मिलता है।

---

[11] भीमराव आम्बेडकर (2014) : 72.

[12] राजेंद्र सिंह (2012) : 134-144.



बर्ट्रेंड रसेल ने पश्चिमी दर्शन के इतिहास की भूमिका में लिखा है कि फ़िलॉसफ़ी (दर्शनशास्त्र) धर्मशास्त्र और विज्ञान के बीच की अवस्था है।[13] यह बात हम बाद के पश्चिमी विकास में देखते हैं कि वहाँ दर्शन या ज्ञान की परम्पराओं ने पुनर्जागरण के बाद अपने-अपने क्षेत्रों की सीमाबंदी ठीक से कर ली थी जिसके कारण वे अपने अपने क्षेत्रों में ईमानदारी से खोज और घोषणाएँ कर सके थे। लेकिन दुर्भाग्य से भारत में इस तरह का कोई पुनर्जागरण घटित ही नहीं हुआ और न इन विषयों की हदबंदी हुई। इसलिए आज भी जनसामान्य में धर्म की चर्चा और सामान्य राजनीतिक संस्कृति (पॉपुलर पॉलिटिकल कल्चर) की समझ के लिए धर्म एक ऐसा विराट नियंता बन गया है जो कर्मकाण्ड, रहस्यवाद, धर्मशास्त्र (क़ानून), दर्शन और विज्ञान को भी एक साथ नियंत्रित करता है।

पहली उलझन यह कि क्या मिथक लोगों को अनैतिक और अन्यायी बनाने के लिए रचे जाते हैं? दूसरी उलझन यह कि इन व्याख्याओं से देवों और असुरों की लड़ाई के मूल कारण का पता नहीं चलता; न ही असुरों के उस अपराध का पता चलता है जिसके कारण वे पूरे पुराण और मिथक साहित्य में अपराधी या तामसिक क़रार दिये गये हैं। तीसरी उलझन यह है कि जिन घटनाओं और चमत्कारों के वर्णन में इन संघर्षों को गूँथा गया है वे वर्णन समाज को कोई ठोस नैतिक या तार्किक दिशा नहीं देते— क्योंकि इन्हीं वर्णनों से भरे मिथकों में दो विपरीत ध्रुवों पर खड़े शिव और विष्णु को कई-कई बार आपस में लड़ाया जाता है और कई बार मित्र बताया जाता है।

मिथकों का पाठ और पुनर्पाठ

मिथकों की खोज, व्याख्या और पुनर्पाठ इतिहास की खोज और खोज के इतिहास को समझने की भी एक विशेष दिशा है जो असल में किसी भी संस्कृति या संस्कृतियों के मनोविज्ञान की सबसे बुनियादी और स्वीकृत विशेषताओं को अपने विश्लेषण का विषय बनाती है। इतिहास में तटस्थ होकर प्रवेश करना और इसी तरह पुरातत्त्व की दिशा से उसी इतिहास के साक्ष्य और तथ्य ढूँढ़ना भी इसी की सहयोगी दिशा है, लेकिन मिथकों को समझना कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि धार्मिक मिथकों और मिथकीय प्रतीकों का समाज के जीवित मनोविज्ञान सहित उसके सामाजिक जीवन की भावी दिशा से गहरा रिश्ता होता है। भारत में मिथकों पर शोध एक कठिन काम है क्योंकि उनमें स्पष्टता बिल्कुल नहीं है। प्रयासपूर्वक इन मिथकों को बार-बार नये रूप आकार और व्याख्याएँ दी गयी हैं, और इन पर आधारित धर्म ही नहीं बल्कि प्राचीन समाज के वेशभूषा, नातेदारी, रहन-सहन सहित भोजन व्यवहार आदि के उल्लेखों को भी या तो विकृत किया गया है या फिर अदृश्य बना दिया गया है। उल्लेखनीय है कि वैदिक समाज गोमांस भक्षण करता था[14], लेकिन आजकल जनसामान्य की जानकारी से यह तथ्य एकदम मिटा दिया गया है। इन मिथकों और इनकी बदलती व्याख्याओं के पीछे धार्मिक दार्शनिक विकास की माँग नहीं बल्कि राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक आधिपत्य बनाए रखने की माँग काम करती है। इसी के साथ भारत में एक ही मिथक की न सिर्फ़ भिन्न-भिन्न ढंग से व्याख्याएँ की

[13] बर्ट्रेंड रसेल (1945) : 13.
[14] द्विजेंद्र नारायण झा (2002).

गयी हैं, बल्कि इन अलग-अलग व्याख्याओं ने आम जनमानस में धर्म या दर्शन की समझ के संबंध और न्यायबोध में ही नहीं बल्कि मनुष्य और प्रकृति के परस्पर संबंधों में भी एक भारी अस्पष्टता का निर्माण कर दिया है। यह समस्या तब और बढ़ जाती है जब इन मिथकों में आदिवासी, मूलनिवासी या असुर प्रजातियों से आर्य देवताओं के संघर्ष का विवरण आता है।[15] अकसर ही इसे देवासुर संग्राम या देव-दानव संग्राम या आर्य-अनार्य संग्राम का नाम दिया गया है।[16] पुराण साहित्य के लिए इन संग्रामों की कथाओं से भरे मिथक ही महत्त्वपूर्ण मिथक हैं। सांस्कृतिक जय-पराजय की पृष्ठभूमि में रचे गये ये मिथक और मिथकीय चरित्र न सिर्फ़ बहुत अधिक हिंसक होते हैं बल्कि उनमें सामान्य-सा नैतिक और न्याय-बोध भी बहुत कम पाया जाता है। उदाहरण के लिए समुद्र मंथन का भारतीय मिथक लेते हैं, जिसमें अमृत प्राप्त होते ही देव विष्णु मोहिनी रूप बनाकर काम के जाल में असुरों को उलझाकर अमृत ले जाते हैं।[17] यहाँ विष्णु देव-दानव समझौते और अमृत के समान बँटवारे के निर्णय सहित सारी नैतिकता और न्याय को ताक पर रख कर अमृत चुरा ले जाते हैं।

ऐसे मिथक आज भी समाज का आदर्श बने हुए हैं, इसलिए इन मिथकों की प्रचलित व्याख्याएँ कुछ उलझनों को जन्म देती हैं। पहली उलझन यह कि क्या मिथक लोगों को अनैतिक और अन्यायी बनाने के लिए रचे जाते हैं? दूसरी उलझन यह कि इन व्याख्याओं से देवों और असुरों की लड़ाई के मूल कारण का पता नहीं चलता; न ही असुरों के उस अपराध का पता चलता है जिसके कारण वे पूरे पुराण और मिथक साहित्य में अपराधी या तामसिक क़रार दिये गये हैं। तीसरी उलझन यह है कि जिन घटनाओं और चमत्कारों के वर्णन में इन संघर्षों को गूँथा गया है वे वर्णन समाज को कोई ठोस नैतिक या तार्किक दिशा नहीं देते— क्योंकि इन्ही वर्णनों से भरे मिथको में दो विपरीत ध्रुवों पर खड़े शिव और विष्णु को कई बार आपस में लड़ाया जाता है और कई बार मित्र बताया जाता है। कई बार शिव स्वयं भक्त बनकर विष्णु की उपासना करते हैं और कई बार विष्णु को शिव का उपासक बताया गया है।

यह एक भयानक स्थिति है जिसमें समाज के सामान्य तर्क-बोध, नैतिकता-बोध और न्याय-बोध की हत्या हो जाती है। इन मिथकों को दैनिक कर्मकाण्ड और त्योहारों उत्सवों आदि के साथ वैदिक काल में ही जोड़ दिया गया है, साथ ही इन्हें रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्यों में भी मिला दिया गया है[18] इसलिए ये मिथक समाज और व्यक्ति के अचेतन में प्रवेश कर जाते हैं जिस पर कोई तार्किक पुनर्विचार ही असम्भव हो जाता है इस प्रकार अंतिम रूप से समाज किसी भी निर्णय तक आसानी से नहीं पहुँच पाता और कई सारे विरोधाभासों में एक साथ जीने लगता है। यह उस पूरे समाज की सृजनात्मकता, सामरिक साहस, वैचारिक परिपक्वता और सामान्य जीवन के आनंद तक को नष्ट कर देती है। यही पूरे भारतीय जीवन की कहानी है। यही भारतीय गुलामी, ज्ञान-विज्ञान में पिछड़ेपन और अंधविश्वास का एक बड़ा कारण है।

यहाँ आकर एक बड़ा सवाल उठता है कि क्या भारतीय मिथकशास्त्र के निर्माता इस उलझन और पतन को नहीं देख पाए होंगे? क्या वे इन मिथकों के कारण एक सामाजिक और राजनीतिक इकाई के रूप में भारत को कमज़ोर होता हुआ नहीं देख पाए होंगे? क्या वे समाज के अधिकांश मानव साधन को शिक्षा, तर्कबोध, न्यायबोध सहित साहस और सहकार की भावना से वंचित होते हुए न देख सके होंगे? यह कहना ग़लत होगा कि उन्हें यह सब दिख नहीं पाया होगा। अगर मान लिया जाए कि वे यह सब देख सके होंगे तो उन्होंने इसका कोई उपाय क्यों नहीं ढूँढ़ा? यह एक चकरा देने वाला प्रश्न है। इसका तर्कपूर्ण और सम्भावित उत्तर यह है कि जिन शास्त्रकारों ने ये मिथक रचे वे किसी

[15] देबीप्रसाद चट्टोपाध्याय (1992).
[16] मोतीरावण कंगाली (2011).
[17] जी.एम. विलियम्स (2003).
[18] गैविन फ़्लड (2003).

सुगठित साम्राज्य को और उस साम्राज्य की बहुसंख्यक जनता को पराजित करके नयी सांस्कृतिक व्यवस्था को अमल में लाने के लिए ऐसा कर रहे थे। इसलिए समाज को भ्रमित रखना, अनिर्णय या विरोधाभास में रखना उनके लिए आवश्यक था। एक अन्य कारण यह भी है कि पराजित समाजों सहित स्त्रियों, शूद्रों, अस्पृश्यों की एक बड़ी जनसंख्या को सामरिक उपायों से समाप्त कर देना सम्भव नहीं था इसलिए उन्हें किसी अन्य और कहीं अधिक सूक्ष्म उपाय से नये सत्तातंत्र या नये धर्मतंत्र का प्रशंसक एवं दास बनाना ज़रूरी था।

यह काम तभी हो सकता था जबकि पुराने और नये मिथकों में बहुत अधिक अंतर न हो। अगर द्रविड़ों के शिव और ब्राह्मणों के विष्णु में बहुत स्पष्ट विभाजन हो जाए तब सामरिक विजय सांस्कृतिक विजय में फलित नहीं हो सकेगी क्योंकि पराजित समाज की जनसंख्या के मन में पुराने प्रतीकों के प्रति आस्था को इतनी जल्दी मिटाना असम्भव है। इसलिए एक बीच का मार्ग अपनाया गया कि नये देवता और पुराने देवता में संबंध को किसी निर्णायक बिंदु तक न पहुँचने दिया जाए और एक मध्य-स्थिति कल्पित की जाए जहाँ से संघर्ष और सहयोग दोनों की, आवश्यकता अनुसार व्याख्या की जा सके। इसका एक और बड़ा कारण यह है कि चूँकि कई बार यह पराजय अधूरी हुआ करती थीं और पराजित समाज का कोई हिस्सा फिर से बग़ावत करके पुराने देवताओं को जीवित कर देता था। इस स्थिति में बार-बार संघर्ष और समझौतों के कारण दोनों देवता समान स्तरीय घोषित हो जाते थे। फिर भी कालांतर में विजेता संस्कृति ने अपने कूटनीतिक उपायों से पुराने देवता को नये आचारशास्त्र और नयी जीवन-शैली में चित्रित करना जारी रखा और पुराने इतिहास सहित जीवन-शैली के अधिकांश हिस्से को अपनी नवीन रचना के लिए चारे की तरह इस्तेमाल कर लिया। यही कुछ शैव और वैष्णव संघर्ष में मुखर होकर सामने आता है।

यहाँ अब हम यह भी देख सकते हैं कि मिथक और मिथकों की व्याख्याएँ समय और परिस्थिति के अनुरूप बदलती रही हैं। ऐसे में आजकल आधुनिकता की चुनौती का सामना ये मिथक कैसे कर रहे हैं— यह भी देखना ज़रूरी है। उल्लेखनीय है कि वर्तमान भारत में आयी आधुनिकता भी भारतीयों के अपने सचेतन प्रयास से नहीं आयी बल्कि ब्रिटिश उपनिवेशवादी सत्ता द्वारा लाए गये नये धार्मिक, सामाजिक मूल्यों और भारत के प्राचीन मूल्यों के बीच उत्पन्न हुए संघर्ष से आयी है।[19] इससे स्पष्ट होता है कि इस नयी धार्मिक रचना का नये युग की आवश्यकताओं के अनुरूप शृंगार करने के लिए नव-वेदांती धर्मगुरुओं ने अपने विशिष्ट तर्कों का निर्माण किया है। इन तर्कों में एक विशेष चयनात्मकता भी शामिल है जो किसी प्राचीन ग्रंथ के किसी ख़ास भाग को चुनकर उस ग्रंथ या



इतिहास के ईमानदार लेखन और हस्तांतरण के अभाव ने न केवल राजनीतिक और सामरिक इतिहास को अनुपलब्ध कर दिया है बल्कि इसी के साथ साहित्यिक, दार्शनिक, वैज्ञानिक, सामाजिक ज्ञान-विज्ञान की परम्पराओं को भी स्वाभाविक रूप से बहने और पल्लवित होने से रोक दिया है। इतनी बड़ी क़ीमत किस प्राप्य के लिए चुकाई जा रही है?

[19] मकरंद परांजपे (2012) : 4-5.

महापुरुष में एक विशेष आध्यात्मिक या जीवन दृष्टि को प्रमुख बताती है। यह प्रयास *गीता* के टीकाकारों ने हर समय और हर परिस्थिति में बहुत ज़ाहिर तौर पर किया है। इस संदर्भ में आज़ादी के संघर्ष के दौरान *गीता* पर अरविंद, तिलक और गाँधी की टीकाएँ उल्लेखनीय हैं। कई क्रांतिकारियों ने गीता के कृष्ण को एक शूरवीर की तरह देखना चाहा है, और कई टीकाकारों ने उसमें कर्म, या ज्ञान या भक्ति को मुख्य स्वर बताया है। कई व्याख्याकार गीता की पृष्ठभूमि में चल रही भयानक हिंसा के बावजूद उसमें अहिंसा को खोज निकालते हैं, वहीं कई व्याख्याकार उसमें वर्णाश्रम धर्म की प्रशंसा का समर्थन होने के बावजूद समता या समत्व को मुख्य संदेश की तरह खोज निकालते हैं। इस संदर्भ में अरविंद शर्मा ने महात्मा गाँधी और डॉ. खगावा के वार्तालाप का उल्लेख किया है जिसमे गाँधी कह रहे हैं कि गीता का असली संदेश हिंसा नहीं बल्कि समत्व है।[20] यह सब देख कर यही प्रतीत होता है कि देश और काल की आवश्यकता के अनुरूप इन शास्त्रों में अपने मनपसंद रंग भरे जाते रहे हैं, और एक अर्थ में प्रशंसनीय इस विविधता ने दूसरे अर्थ में असमंजस भी पैदा किया है। विशेष रूप से तब जबकि भारत में इन्हीं शास्त्रकारों के वर्ण बंधुओं ने भारत की बहुसंख्य आबादी को शिक्षा और पठन-पाठन से बलात् वंचित रखा है।

शास्त्रों की और मिथकों की भिन्न-भिन्न या परस्पर विरोधी व्याख्याएँ एक पुराना उपाय रहा है। इन उपायों से आगे निकलते हुए आधुनिक हिंदू चिंतक आजकल आधुनिकता और उत्तर आधुनिकता के बीच छिड़ी जंग में प्रयोग हो रहे तर्कों का इस्तेमाल अपने रूढ़िवादी और प्राचीन विश्वासों की रक्षा के लिए भी करने लगे हैं। यहाँ यह नोट करना आवश्यक है कि प्राचीन रूढ़ियों के रक्षण के इस काम में उद्योगीकरण, विज्ञानवाद और शहरीकरण से जन्मी आधुनिकता ने जिस वस्तुनिष्ठता को जन्म दिया उसकी प्रतिक्रिया में चेतना और अस्मिता की बहस ने धर्म को मजबूत करते हुए शहरी भारतीय मध्यम वर्ग में इन मिथकों और मिथक आधारित महाकाव्य कथाओं का सम्मोहन पहले की तुलना में कहीं अधिक बढ़ा दिया है। यहाँ मीरा नंदा के शोध का उल्लेख आवश्यक है जो अपने बहुत सारे उदाहरणों से यह बतलाता है कि किस तरह आज़ादी के बाद नव उदारतावाद और वैश्वीकरण भारतीय 'भगवानों' और देवी-देवताओं के लिए फ़ायदेमंद साबित हुआ है।[21] मीरा नंदा के अनुसार एक किताब में आस्था रखने वाले धर्म (इस्लाम और ईसाईयत) जहाँ अपनी किताब के प्रति आस्था के माध्यम से धर्मावलम्बियों को आपस में बाँधते हैं वहीं हिंदू धर्म यही काम त्योहारों, कर्मकाण्डों, मिथकों और उत्सवों के माध्यम से करता है। आगे वे बतलाती हैं कि आधुनिकीकरण से जुड़ी असुरक्षाओं ने भारत के शहरी मध्यम वर्ग में कुछ ख़ास तरह की सामाजिक और मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं को जन्म दिया है। इन आवश्यकताओं को 'राज्य-मंदिर-उद्योगपति' की आधुनिक त्रिमूर्ति ने अपने अपने ढंग से इस्तेमाल किया है। हालाँकि राज्य और उद्योगपति के गठजोड़ पर पहले भी चिंताएँ उभरती रही हैं।[22] इस आधुनिक त्रिमूर्ति के मध्य के चेहरे के प्रतिनिधि आधुनिक बाबा, कथाकार, धर्माचार्य और योगी प्राचीन रहस्यवादी ज्ञान का वर्तमान संदर्भ में जिस तरह से अर्थ करते हैं वह शहरी मध्यम वर्ग की सामाजिक और मनोवैज्ञानिक असुरक्षाओं का उत्तर देते हुए, अकेलेपन और अस्मिता के संकटों से उबरने के लिए एक तरह की सामूहिकता, मित्रता, और मानसिक शांति का आश्वासन भी देता है।

हमारे लेख के केंद्रीय विमर्श के लिए मीरा नंदा के इस विश्लेषण में एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात जोड़नी ज़रूरी है। वह यह कि चूँकि इन मिथकों ने समाज में वर्ण और जाति के विभाजन बनाकर समाज को ऐतिहासिक रूप से असुरक्षित बनाने का काम भी खुद ही किया है, इसलिए आधुनिक

[20] अरविंद शर्मा (2009) : 31.
[21] मीरा नंदा (2011).
[22] बी.एम. सिन्हा (1992).

समय में ये मिथक दोहरी भूमिका निभा रहे हैं। एक तरफ़ वे वैश्वीकरण और शहरीकरण की चुनौती से उभरी नयी असुरक्षाओं का वेदांती भाषा और शैली में समाधान दे रहे हैं और दूसरी तरफ़ वे जाति और वर्ण व्यवस्था को बनाए रखने वाले रूपकों और प्रतीकों को भी ज़िंदा रख रहे हैं ताकि आधुनिक असुरक्षाओं का समाधान ब्राह्मणवाद की प्राचीन या सनातन असुरक्षा के समाधान पर हावी न हो जाए। दूसरे शब्दों में कहें तो नव-वेदांत के समाधान— जो कि शहरी मध्यम वर्ग के अकेलेपन और भय का इलाज कर रहे हैं— इतने भी आगे न बढ़ जाएँ कि प्राचीन वेदांत द्वारा ब्राह्मणों को वर्ण और जाति व्यवस्था द्वारा दी गयी सुरक्षा पर संकट खड़ा कर दें। इस प्रकार आधुनिक भारत में मिथकों की भूमिका न सिर्फ़ बढ़ गयी है बल्कि दोहरी हो गयी है। इसे आधुनिक राष्ट्रवाद और राष्ट्रवाद की पोषक राजनीति के असमंजस में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

इस प्रकार बहुत से बिंदुओं पर विचार करते हुए हम देखते हैं कि भारत के जनमानस में प्रचलित इतिहास और इतिहास-बोध सहित सामाजिक नैतिकता, तर्क-बोध और न्याय-बोध असल में मिथकों द्वारा गढ़े गये हैं। ऐसा करना निश्चित ही चुनौतीपूर्ण रहा होगा और वास्तविक इतिहास सहित वस्तुनिष्ठ और तर्कपूर्ण ज्ञान में रुचि रखने वाले वर्गों ने इसका विरोध भी किया होगा। महिषासुर-विमर्श के पैरोकार के रूप में बहुजन ख़ेमा यहाँ यह घोषणा करना चाहता है कि इस विरोध का शमन स्वयं इतिहास-बोध को ही नष्ट करके बहुत धीरे-धीरे किया गया है। इस इतिहास-बोध को समाज में फैले न्याय-बोध और सामाजिक नैतिकता के बोध को क्षीण करके और मिथकों की लगातार बदलती व्याख्याओं द्वारा नियंत्रित किया गया है। यह नियंत्रण इस हद तक सफल रहा है कि एक जैसे अपराध के लिए भी ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र के लिए अलग दण्ड व्यवस्था दे दी गयी। इस व्यवस्था ने न सिर्फ़ नीति और नैतिकता को बल्कि इतिहास में नज़र आने वाली विसंगतियों और पहेलियों की भी व्याख्या बदल कर काल्पनिक, चमत्कारिक कहानियों को जनमानस के लिए इतिहास का स्रोत बना दिया है। ऐसा करते हुए इस व्यवस्था ने इतिहास की असंगतियों और पहेलियों पर प्रश्न उठा सकने वाली और असली इतिहास को खोज सकने वाली जिज्ञासा, साहस और प्रेरणा— तीनों को लगभग ख़त्म कर दिया है।

इतिहास की खोज की आवश्यकता ही यदि अदृश्य बना दी जाए तो फिर न तो इतिहास होगा न इतिहास से ली गयी शिक्षा पर खड़ा वर्तमान होगा और न ही इनकी रेखीय दिशा में वांछित सुधारों को लाने वाला सुपरिभाषित भविष्य ही होगा। इस प्रकार भारतीय मिथकशास्त्र एक वर्ग विशेष के हित के लिए जिस सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और दार्शनिक अनुशासन का निर्माण करता आया है भारत उसी के चलते पतन के गर्त में गया है। इतिहास के ईमानदार लेखन और हस्तांतरण के अभाव ने न केवल राजनीतिक और सामरिक इतिहास को अनुपलब्ध कर दिया है बल्कि इसी के साथ साहित्यिक, दार्शनिक, वैज्ञानिक, सामाजिक ज्ञान-विज्ञान की परम्पराओं को भी स्वाभाविक रूप से बहने और पल्लवित होने से रोक दिया है। इतनी बड़ी क़ीमत किस प्राप्य के लिए चुकाई जा रही है? इसका एक ही उत्तर है कि केवल ब्राह्मणवादी आधिपत्य को बनाए रखने के लिए ये सारे उपाय किये जा रहे हैं जिनके अंतिम फलित के रूप में भारत न सिर्फ़ सामाजिक नैतिकता, तर्क, विज्ञान और दर्शन के विकास में पिछड़ गया बल्कि एक लम्बे इतिहास में किसी भी सामाजिक क्रांति या पुनर्जागरण को सम्भव न कर सका। क्रांति या पुनर्जागरण की बात तो बहुत दूर रही, भारत एक सभ्य और संगठित समाज तक का निर्माण नहीं कर सका और इसका परिणाम भारत की ऐतिहासिक, सामरिक, राजनीतिक, कूटनीतिक पराजयों और सैकड़ों सालों की लम्बी गुलामी में देखने को मिलता है।

यहाँ यह भी महत्त्वपूर्ण है कि भारत के बहुसंख्य समाज को सभ्य और संगठित न होने देने की दिशा में स्थानीय और तत्कालीन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए देशज या स्थानीय मिथक भी उभरते रहे हैं। इस तरह के मिथक मुख्यधारा के मिथकों से जुड़ते हैं और उनका आधिपत्य स्वीकारते हुए

मुख्य धारा के मिथकीय मूल्यों का स्थानीय भाषा में सामान्यीकरण करते रहे हैं। ऐसे में स्थानीय देवी-देवताओं, महापुरुषों, टोटेम इत्यादि को उचित स्थान देकर लचीले स्थानीय मिथकों का निर्माण करके समाज के सभी तबक़ों को संतुष्ट रखा गया है। इसीलिए भारत में सभी राज्यों में सभी जातियों और समुदायों में ऐसे स्थानीय देवता, कुलदेवता, कुलदेवियाँ और टोटेम चरित्र पाए जाते हैं जो किसी न किसी तरह से ब्रह्मा, विष्णु, शिव, दुर्गा, गणेश, काली, राम, कृष्ण इत्यादि से जुड़ते हैं। ये जातियाँ और समुदाय इन बड़े चरित्रों की महिमा का प्रवाह अपने स्थानीय चरित्रों में देखकर संतुष्ट बने रहते हैं। इन मिथकों के त्योहारों, उत्सवों, मेलों आदि में मंचन के ज़रिये और जन्म, मृत्यु, विवाह आदि के अवसरों पर इनसे जुड़े कर्मकाण्डों और कथाओं के द्वारा स्थानीय जातियों, समुदायों पर समय के साथ मुख्यधारा की संस्कृति का वर्चस्व मजबूत होता जाता है। इस प्रकार सभी वर्ण और जातियाँ एक तरह के स्थायित्व और सम्मान का अनुभव करते हैं लेकिन इस स्थायित्व के लिए उन्हें यथास्थितिवाद और विकासहीनता के रूप में एक भारी क़ीमत चुकानी पड़ती है।

इस यथास्थिति को बनाए रखना ही ब्राह्मणवादी मिथक शास्त्र का और इसके आधार पर निर्मित ज्ञात हिंदू धर्म का मूल उद्देश्य है। उधर पश्चिम में जिन संस्कृतियों के मनोविज्ञान पर उनके अपने मिथकों की पकड़ ढीली हो गयी वहाँ के समुदाय न सिर्फ़ विज्ञान और दर्शन बल्कि कला, साहित्य और नयी नैतिकता पैदा करने में भी सफल रहे। ऐसा करते हुए उन्होंने अनिवार्य रूप से एक ठोस इतिहास-बोध के आधार पर पुरातात्विक उपकरणों की मदद से अपने और विश्व के इतिहास का अध्ययन किया है। इसी अध्ययन ने उनके समर्थ वर्तमान और सुरक्षित भविष्य की कल्पना को आकार दिया है। इन्हीं कल्पनाओं ने पश्चिम में इतनी सारी सामाजिक, राजनीतिक और वैज्ञानिक क्रांतियाँ की हैं। इसके विपरीत भारत में क्रांति से भयभीत वर्ण और जाति-सत्ताएँ अपनी धार्मिक-सत्ता और आधिपत्य बनाए रखने के लिए न सिर्फ़ मिथकों से जन्मे इतिहास-बोध और सामाजिक नैतिकता-बोध को पाषाण की तरह स्थिर बनाती आयी हैं, बल्कि इसी क्रम में प्रतिक्रांति रचते हुए मनुष्यता के प्रति सबसे बड़े अपराधों को भी संगठित करती आयी हैं। ब्राह्मणी आधिपत्य को आँच न आये इसलिए शूद्रों, अस्पृश्यों और स्त्रियों को हज़ारों साल तक पशुवत् जीवन जीने के लिए विवश किया गया। यह सब जानने-समझने के बाद इन मिथकों को इनके अर्थों और अनुप्रयोगों सहित बहस में लाना ज़रूरी है। प्रतिक्रांति जिन समाजों की जीवन-शैली बन चुकी हो वहाँ मिथकों की अघारी चीरफाड़ होनी चाहिए, और कम से कम भारत के लिए तो अब यह बहुत ज़रूरी हो गया है।

महिषासुर : मिथकों का पुनर्पाठ पर आयी प्रतिक्रिया और उसका उत्तर

इस विस्तार में जाने के बाद अब हम महिषासुर-विमर्श पर लिखे गये मेरे विस्तृत लेख के उत्तर में आये एक अन्य लेख पर आते हैं। यह लेख अम्बिकादत्त शर्मा और विश्वनाथ मिश्रा ने संयुक्त रूप से लिखा है। उनके इस लेख में जिन प्रश्नों और जिन मान्यताओं या जिन स्थापनाओं का उल्लेख है उनमें क्रमशः प्रवेश करके महिषासुर-विमर्श के ज़रिये उभर रही फुले-आम्बेडकरी वैचारिकी या बहुजन वैचारिकी को स्पष्ट किया जा सकता है। आइए इसमें प्रवेश करें।

1. पृष्ठ नंबर दो पर 'मार्क्सवादी सादृश्यता' वाले इतिहास-लेखन पर टिप्पणी की गयी है। हालाँकि यहाँ स्पष्ट कर दिया जाना उचित होगा कि महिषासुर-विमर्श या बहुजन विमर्श को मार्क्सवादी या मार्क्सवादी सादृश्यता वाले विमर्श की तरह देखना ठीक नहीं है। बहुजन विमर्श के अपने प्रेरणास्त्रोत और प्रस्थान बिंदु हैं जो फुले और आम्बेडकर से प्रेरणा लेते हैं। इस पृष्ठ पर लेखकद्वय मार्क्सवादी सादृश्यता वाले इतिहास-लेखन के बारे में लिखते हैं कि 'इनका वह एकत्ववाद कभी जाति, कभी जनजाति, कभी धर्म, कभी अर्थ, कभी शोषण और अन्याय, तो कभी कुछ और भी होता है। इस दृष्टि से सनसनी उत्पन्न करने वाले कहानी, नाटक, प्रहसन

आदि की तो रचना की जा सकती है किंतु इतिहास के किसी समानांतर विमर्श को खड़ा नहीं किया जा सकता है'।[23]

इस टिप्पणी में कहा गया है कि ब्रह्म और सच्चिदानंद जैसे व्यापक आधारों पर नहीं बल्कि जाति शोषण और अन्याय जैसे आधारों पर मार्क्सवादी सादृश्यता वाले लोगों द्वारा किसी एकत्व की खोज की जा रही है। यहाँ यह अपेक्षा की गयी है कि ब्रह्म या सच्चिदानंद जैसे आधारों पर एकत्व निर्मित किया जाना उचित है। इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि इतिहास की भौतिक व्याख्या इन्हीं (जाति, जनजाति, धर्म, अर्थ, शोषण और अन्याय) ज़मीनी सच्चाइयों पर काम करती है, ब्रह्म और सच्चिदानंद का इससे संबंध होना भी नहीं चाहिए, न ही इसमें सच्चिदानंद की हवा-हवाई विराटता के प्रति किसी तरह का स्वागत भाव ही होना चाहिए। ऐसी हवा-हवाई धारणाओं ने जिस तरह का शोषण, अंधविश्वास और नरक पैदा किया है उसके ख़िलाफ़ ही तो मार्क्सवादी इतिहास-बोध जन्मा है, ऐसे में मार्क्सवादी दृष्टि का अरविंद या शंकर की पुराण दृष्टि से साम्य होने की अपेक्षा की भी नहीं जानी चाहिए। यह अपेक्षा उसी तरह भ्रांत और ग़लत होगी जिस तरह शंकर या अरविंद से भौतिकवादी व्याख्या द्वारा इतिहास-बोध पैदा करने की अपेक्षा भ्रांत होने को बाध्य होगी। इसके अतिरिक्त यहाँ यह भी नोट करना ज़रूरी है कि महिषासुर-विमर्श या ओबीसी आदिवासी या दलित विमर्श मार्क्सवादी इतिहास-बोध पर आधारित नहीं है। यह आम्बेडकरवादी और फुलेवादी विमर्श पर आधारित है जिसमें धर्मशास्त्रों को और उनकी प्रस्तावनाओं को मिथकों और धार्मिक क़ानूनों के आईने में विश्लेषित करके भारत के धर्म में छुपे हुए ब्राह्मणवाद को सामने लाया जाता है।

महिषासुर-विमर्श का मूल आग्रह यह है कि भारत की संस्कृति की वास्तविक निर्मात्री जातियों— जिन्हें शूद्र वनवासी और अंत्यज या पंचम वर्ण कहा गया है— उनकी अपनी मिथकीय समझ और मिथकीय चरित्रों की विशिष्टता को स्थापित किया जाए ताकि आर्य ब्राह्मणों द्वारा अपने वर्ण हितों को सुरक्षित करने के लिए लेखन और पठन-पाठन पर एकाधिकार बनाए रखते हुए जो षड्यंत्र किये हैं उन्हें बेनक़ाब किया जा सके। महिषासुर-विमर्श असल में इस देश के समाज और संस्कृति के वास्तविक निर्माताओं और पोषकों का आख्यान है। वह ओबीसी श्रेणी के यादव, अहीर, कुम्हार, लोहार, जुलाहे, किसान, शिल्पकार इत्यादि जातियों का आख्यान है जो समाज और व्यक्ति के जीवन के लिए अनाज, दूध, कपड़ा, उपकरण, बर्तन और अन्य अनेक वस्तुएँ निर्मित करते आये हैं, लेकिन उनके श्रम तथा संस्कृति सहित उनके लोकदेवताओं को अपमानित और हेय बनाया गया है। वह इस पूरी प्रक्रिया की एक गहरी छानबीन की माँग करता है ताकि महिषासुर को लोकनायक मानने वाली सभी ओबीसी (शूद्र) दलित और आदिवासी जातियाँ अपने श्रम की गरिमा को समझ सकें और यह प्रश्न भी उठा सकें कि ठोस और ज़मीनी श्रम और उत्पादन करने के बावजूद समाज में उनका स्थान अछूतों जैसा क्यों है? यह आख्यान इस परिघटना की थाह लेना चाहता है कि यादव, अहीर, कुम्हार, कुर्मी, चर्मकार, वाल्मीकि और कोइतूर गोण्ड जनों के साथ हिंदू सवर्ण द्विज रोटी-बेटी का संबंध क्यों स्थापित नहीं करते या उन्हें मंदिरों में पुरोहिताई और शास्त्रों के पठन-पाठन के योग्य क्यों नहीं माना जाता है। एक अन्न या दूध उपजाने वाला किसान या पशुपालक या ऐसा ही लोहे, चमड़े या मिट्टी या लकड़ी के उत्पाद बनाने वाला ओबीसी या दलित सम्मानित क्यों नहीं है? वहीं इस समाज के लिए किसी तरह का श्रम या उत्पादन नहीं करने वाला ब्राह्मण इतना समादृत क्यों है? यह प्रश्न असल में श्रम और उत्पादन की गरिमा का प्रश्न है। महिषासुर-विमर्श असल में ओबीसी, किसानों और अहीरों सहित दलितों आदिवासियों के श्रम और उत्पादन को गरिमा देने का विमर्श और आंदोलन है।

---

[23] अम्बिकादत्त शर्मा एवं विश्वनाथ मिश्र (2017) : 2.

2. आगे इसी पृष्ठ पर लिखा गया है कि 'इतिहास की क़ब्र खोद कर एक समानांतर विमर्श खड़ा करना एक दुरूह कार्य है। इसके लिए कम से कम तीन तत्त्वों की आवश्यकता होती है। प्रथम पूर्व-पक्ष से असहमति के लिए ठोस ज्ञानमीमांसा एवं तत्त्वमीमांसीय प्रतिबद्धता की अपेक्षा'।[24]

यहाँ यह माना जा रहा है कि महिषासुर-विमर्श केवल और केवल इतिहास का विमर्श है, साथ ही यह भी माना जा रहा है कि बहुजनों के पास एक विश्व-दृष्टि नहीं है। यह एक अधूरी सच्चाई है। महिषासुर-विमर्श मूल रूप से एक मिथकीय विमर्श है जिसमें एक स्थापित और प्रचलित मिथक का प्रतिपक्ष दिया जा रहा है। यहाँ यह भी नोट करना होगा कि मिथक स्वयं ही एक विश्व-दृष्टि भी है, अत: जब बहुजन अपने मिथकों की विशिष्टता की या मिथक विशेष की अपनी अलग व्याख्या की घोषणा करते हैं तो वास्तव में वे अपनी अलग और विशिष्ट विश्व-दृष्टि की घोषणा भी कर रहे होते हैं। अब चूँकि प्रचलित मिथक में ही ऐतिहासिक तथ्य नहीं हैं और चूँकि मिथक रचने वाले वर्ग ने इतिहास की सचेतन हत्या की है, ऐसे में मिथकीय प्रतिपक्ष से भी ऐतिहासिक तथ्यों की अपेक्षा नहीं की जा सकती। समय के साथ इतिहास और पुरातत्त्व की खोजें इसे अवश्य समृद्ध बनाते हुए किसी निष्पत्ति पर ले जाएँगे लेकिन महिषासुर-विमर्श असल में ओबीसी, दलितों और आदिवासियों की अपनी मिथकीय कथाओं के विस्तार और वैविध्य पर आधारित है। उसमें ऐतिहासिक या पुरातात्विक साक्ष्य केंद्रीय महत्त्व के नहीं हैं, बल्कि लोकचेतना में प्रवाहित हो रहे आख्यान, उनसे जुड़ी संस्कृति व समाज और उन आख्यानों का प्रचलित हिंदू आख्यानों से अलगाव ही इस महिषासुर-विमर्श का केंद्रीय बिंदु है। इस केंद्रीय बिंदु से ही जो स्वाभाविक विमर्श निकलता है वह धीरे-धीरे प्रचलित ब्राह्मणवादी मिथकों के प्रतिपक्ष के रूप में सदियों से बने रहते आये ओबीसी दलित आदिवासी मिथकों की एक भिन्न व्याख्या का रूप ले लेता है। ग़ौरतलब है कि यह इतिहास का नहीं बल्कि मिथकों का पुनर्पाठ है।

3. पृष्ठ तीन पर यह भी आता है कि 'उपर्युक्त समीक्षात्मक अन्वेषण के पश्चात् इस निष्पत्ति तक पहुँचा जा सकता है कि विश्व के किसी भी इतिहासकार ने किसी भी इतिहास के साथ न्याय नहीं किया है। लेकिन इसके बावजूद भारत के इतिहास-लेखन के संदर्भ में यह कहना जारी रहता है कि भारतीय इतिहास की अधिकांश प्राचीन कृतियों में इतिहास-बोध का अभाव है। क्या इस तरह के आरोप-प्रत्यारोप को पश्चिम के जातीय अहंकार या औपनिवेशिक मान्यता की तरह नहीं देखा जाना चाहिए?'[25]

ये एक ईमानदार स्वीकारोक्ति है। यहाँ जो प्रश्न लेखकद्वय उठा रहे हैं। ठीक यही प्रश्न ओबीसी दलित और आदिवासी अब ब्राह्मणी इतिहासकारों और मिथककारों पर उठा रहे हैं। भारतीय ब्राह्मणवादियों को पश्चिमी इतिहासकारों पर प्रश्न उठाने की स्वतंत्रता है, तो यह स्वतंत्रता ओबीसी दलितों और आदिवासियों को क्यों नहीं दी जानी चाहिए? ख़ासकर तब जबकि ब्राह्मणवादी शास्त्रों में घोषित रूप से शूद्रों, दलितों, वनवासियों को हीन मानते हुए उन पर सदियों तक शिक्षा और लेखन संबंधी सामाजिक प्रतिबंध थोपे गये हैं। ग्लोबल वेस्ट या ईस्ट का जो संघर्ष है उससे कहीं अधिक भयानक संघर्ष और शोषण खुद भारत में ही धर्मसम्मत ढंग से आज भी हो रहा है। ऐसे में बहुजन (ओबीसी, दलित, आदिवासी) को अल्पजन ब्राह्मणों की स्थापनाओं पर प्रश्न उठाने का अधिकार मिलना ही चाहिए। महिषासुर-विमर्श उसी अधिकार को हासिल करने का प्रयास है।

4. इसी पृष्ठ पर आगे यह भी आता है कि 'भारत की सनातन परम्परा ने समानांतर इतिहास-बोध रखने वाले समूहों (सम्प्रदायों) को भी यह स्वतंत्रता दी है कि वे चाहें तो प्रस्थान त्रयी (उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता) पर भाष्य लिखकर नवीन सम्प्रदाय एवं नूतन इतिहासबोध की दुनिया बसा लें'।[26]

---

[24] वही.

[25] अम्बिकादत्त शर्मा एवं विश्वनाथ मिश्र (2017) : 3. इसी पृष्ठ पर, विंसेंट स्मिथ (1990) : III.

[26] वही.

अब यहाँ प्रस्थान त्रयी पर भाष्य को एक अनिवार्यता बनाना एक विचित्र और हास्यास्पद शर्त है जो इस देश के ब्राह्मणवादी वर्चस्व की राजनीति ने ही निर्मित की है। तर्क के विरुद्ध जा कर जीवन और जगत की व्याख्या करते हुए वर्ण हितों की रक्षा करने वाले इन शास्त्रों में सामान्य मानवीय नैतिकता और तर्कबोध सहित न्याय-बोध का भारी अभाव है। इन्हीं शास्त्रों ने वह भारत निर्मित किया है जो ग़ुलाम, ग़रीब और अवैज्ञानिक रहा है। ऐसे में आधुनिक समय में प्रस्थान त्रयी को विद्वत्ता की घोषणा करने का एकमात्र प्रस्थान बिंदु मानने वाली परम्परा अपने को स्वयं ही तारीख़बदर करने की घोषणा कर रही है। एक अन्य ढंग से देखा जाए तो ब्राह्मणों की प्रस्थान त्रयी जिसमें ओबीसी, दलितों और आदिवासियों का कोई स्थान नहीं है और जिसमें उन्हें पाप-योनि, म्लेच्छ, अछूत और हेय माना गया है, वे स्वयं उस प्रस्थान त्रयी की नवीन व्याख्या क्यों करना चाहेंगे? उनसे यह अपेक्षा क्यों की जाए? क्या ब्राह्मणवादी विद्वान् आज के महिषासुर संबंधी संथाल या असुर आख्यानों पर शास्त्रीय ढंग से कोई भाष्य लिखना चाहेंगे? क्यों और क्यों नहीं? इस प्रस्थान त्रयी पर भाष्य करके नवीन सम्प्रदाय क्यों बसाया जाए? हमारा अपना बहुजन समाज— जो वस्तुतः इस देश और संस्कृति का वास्तविक निर्माता, उत्पादक, श्रम-कर्ता और पालक है— उसे अलग समुदाय बनाने की क्या आवश्यकता है? उसे नूतन इतिहास-बोध या विश्व-दृष्टि की दुनिया बसाने की क्या आवश्यकता है जबकि उसके पास अपना एक विशिष्ट इतिहास-बोध और विश्व-दृष्टि है जो न केवल अधिक ईमानदार है, बल्कि श्रम तथा उत्पादन सहित नैतिकता और न्याय-बोध से भी लैस है। उस इतिहास या इतिहास-बोध और न्याय-बोध में स्त्रियों को सती या जौहर नहीं जाना होता बल्कि वे वीरांगना दुर्गावती की भाँति युद्ध करने में सक्षम होती है।

5. इसके बाद इसी पृष्ठ पर वी.एस. आप्टे के हवाले से भारत की इतिहास-दृष्टि की एक मानक परिभाषा प्रस्तुत की गयी है जिसके सहारे ग़ैर-भारतीय इतिहास-दृष्टि की ख़बर लेने का प्रयास किया गया है। यह परिभाषा एक श्लोक के रूप में रखी गयी है [27] :

धर्मार्थकाममोक्षानाम उपदेशसमंवितम
पूर्ववृत्तम कथायुक्तम इतिहासम प्रचक्षते

अब इस श्लोक में जिस धर्म और मोक्ष का उल्लेख है उसका भारत की या विश्व की श्रमशील जातियों के श्रम की गरिमा के साथ कोई संबंध नहीं है। यह ब्राह्मणवादी पुराण-दृष्टि से भरा सूत्र है। मोक्ष क्या होता है? उसे सामाजिक मुक्ति के अर्थ में लिया जा रहा है या काल्पनिक पुनर्जन्म और काल्पनिक आत्मा के तथाकथित पुनरागमन के निषेध के अर्थ में लिया जा रहा है? क्या यह ब्राह्मणवाद द्वारा निर्मित परलोकी मोक्ष है या इसी लोक में मनुष्य के सामाजिक और राजनीतिक स्वतंत्रता के अर्थ वाला मोक्ष है? यह अंतर करना ज़रूरी है क्योंकि महिषासुर विमर्श जिन ओबीसी दलितों और आदिवासियों का विमर्श है वे जीवन और जगत की ठोस भौतिक आधारों पर व्याख्या करते आये हैं। इस अर्थ की अनुगूँज बहुत हद तक आजीवक सम्प्रदाय के मक्खली घोषाल में भी मिलती है जब वे मण्डल मोक्ष की धारणा को मनुष्य के इसी लोक में सामाजिक राजनीतिक मुक्ति (व्यक्तिगत और सामूहिक) के रूप में निरूपित करते हैं। आत्मा या पुनर्जन्म या मोक्ष की कोई हवा-हवाई धारणा महिषासुर-विमर्श या ओबीसी दलित-विमर्श के लिए आधार नहीं बना सकती। यह मान कर नहीं चला जा सकता कि ब्राह्मणी धारणाओं में आये आत्मा, परमात्मा और पुनर्जन्म जैसे अनुत्पादक अवैज्ञानिक और श्रम की गरिमा के विरुद्ध रचे गये सिद्धांतों को महिषासुर-विमर्श या दलित ओबीसी विमर्श के लिए एक अनिवार्य शर्त बनाया जा सकता है। भारत के बहुजन *महाभारत* या *रामायण* की हर उस काल्पनिक और हवा-हवाई धारणा का विरोध करेंगे जो अंधविश्वासों और परलोकवादी धारणाओं से निर्मित या संचालित हैं।

---

[27] अम्बिकादत्त शर्मा एवं विश्वनाथ मिश्र द्वारा उद्धृत : 3.

6. 'वस्तुत: भारतवर्ष के ....इतिहास-लेखन का उद्देश्य रहा है'।[28]

ये बड़ा ही विचित्र लेकिन अत्यंत महत्त्वपूर्ण वक्तव्य है। यह पूरे ब्राह्मणवादी प्रयास और उसकी प्रेरणाओं को एकदम उजागर करके रख देता है। 'भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास-लेखन में व्यक्ति, जाति, वंश और समय-स्थान महत्त्वपूर्ण नहीं हैं बल्कि शांति, सुरक्षा एवं व्यवस्था की स्थापना उसका मुख्य उद्देश्य है'। अब इस वक्तव्य को ठीक से देखें तो कई मज़ेदार बातें उभरती हैं। इतिहास-लेखन में जाति-वंश के न होने के दावे को मिथकीय और पौराणिक कहानियों की संरचना से मिलाकर देखिए। हम पाते हैं कि भारतीय पुराणों में वर्णित हर एक कहानी में हर उल्लेख में साफ़ बताया जाता है कि अमुक नगर या ग्राम में एक ग़रीब ब्राह्मण या एक वणिक पुत्र या एक चण्डाल रहता था; अमुक प्रदेश में कोई प्रतापी राजा या तपस्वी रहता था जिसकी वंशावली भी तत्परता से बतलाई जाती है। *योगवाशिष्ठ* को ध्यान से दखें तो उसमें राजाओं, तपस्वियों ही नहीं बल्कि पिशाचों और मायावी राक्षसों के नगरों ग्रामों और वंशों का उल्लेख है। ऐसे उल्लेख पूरे पौराणिक साहित्य में भरे पड़े हैं जो असल में लिखित इतिहास से अधिक शक्तिशाली ढंग से इस देश के जनमानस को निर्मित और संचालित करते आये हैं।

7. लेखकद्वय आगे लिखते हैं कि 'व्यवस्था की स्थापना ही इस इतिहास-लेखन का लक्ष्य है'।

यह एक अन्य बहुत ईमानदार स्वीकारोक्ति है। यहीं फुले और आम्बेडकरवादी विचारधारा अपनी प्रासंगिकता सिद्ध करती है। यह पूरी तरह सच है कि व्यवस्था यानि 'यथास्थिति' को बनाए रखना ही भारत के इतिहास-लेखन का कुल जमा लक्ष्य है। आम्बेडकर के विश्लेषण को देखें तो यह 'व्यवस्था' असल में वर्ण व्यवस्था है जिसे बनाए रखने के लिए ही ब्राह्मणवाद की सारी सृजनात्मक शक्ति ऐतिहासिक रूप से समर्पित रही है। आम्बेडकर तो इससे आगे जाते हुए यह भी कहते हैं कि न सिर्फ़ पुराणों में मौजूद भारतीय पद्धति के इतिहास-लेखन का बल्कि भारत के धर्म का एकमात्र लक्ष्य भी वर्णाश्रम की व्यवस्था को बनाए रखना ही है। इसका सीधा अर्थ यह है कि चार वर्णों का पदानुक्रम और हज़ारों जातियों के बीच फैली सीढ़ीदार असमानता को बनाए रखना ही भारतीय इतिहास-लेखन और धर्म का अंतिम लक्ष्य है।

8. यहाँ लेखकद्वय स्वयं भी स्वीकार कर रहे हैं कि वर्णाश्रम धर्म और पुरुषार्थ की महत्ता को स्थापित करना भारतीय इतिहास-लेखन का लक्ष्य है।

अब जब यह स्पष्ट है कि जन्मगत भेदभाव को बनाए रखना ही इस इतिहास और इससे जुड़े मिथकों और पुराणों का लक्ष्य है तो फिर भारतीय समाज को आधुनिक लोकतंत्र और आधुनिक सभ्यता के साथ सुसंगत बनाने के लिए विद्वत समुदाय को इस महिषासुर-विमर्श या दलित-ओबीसी विमर्श को उभारने में मदद करनी चाहिए। यह आग्रह इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि पुराणों और धर्मशास्त्रों में वर्णित या इंगित पुरुषार्थ की धारणा स्वयं में सभ्य मानव समाज के लिए घातक है। क्या वर्णाश्रम धर्म की प्रस्तावनाओं में एक ब्राह्मण और यादव/अहीर का या एक वणिक और चाण्डाल का पुरुषार्थ एक-सा हो सकता है? क्या एक ब्राह्मण और एक यादव को शास्त्र अध्ययन और यज्ञ करने का एक-सा अवसर प्राप्त हो सकता है? अगर पुरुषार्थ को मानव प्रयास के अर्थ में लिया जाए तो यह श्रम की सम्भावना का स्रोत भी बनता है, क्या ऐसा पुरुषार्थ करने की एक-सी स्वतंत्रता एक ओबीसी दलित और ब्राह्मण को है? अगर नहीं तो पुरुषार्थ की इस खण्डित और भेदभाव भरी और श्रम/उत्पादन ही नहीं बल्कि मानव गरिमा की विरोधी धारणा का क्या और कितना मूल्य है? हाँ, अगर हवा-हवाई मोक्ष या बैकुण्ठ प्राप्त करने के लिए किये जाने वाले यज्ञ, हवन, दान पुण्य या तथाकथित साधनाओं, निष्काम कर्म और भक्ति को पुरुषार्थ में गिना जाता है तो यह ब्राह्मणवाद की अपनी सुविचारित रचना

[28] अम्बिकादत्त शर्मा एवं विश्वनाथ मिश्र (2017) : 3.

है, आम्बेडकर के शब्दों में यह एक ऐसा सुरक्षित भवन है जिसके शिखर पर स्वयं बैठकर ब्राह्मणवादी नियंता इस परलोकवादी और अंधविश्वासी समाज पर शासन करते हैं। इस अंधविश्वासी हवामहल का ज़मीन पर ठोस श्रम करके अनाज या दूध उपजाने वाले ओबीसी दलित या आदिवासी से कोई संबंध नहीं है।

9. लेखकद्वय यहाँ स्वयं यह भी स्वीकार कर रहे हैं कि 'जीवन के सारतत्त्व की खोज के प्रयासों ने प्राचीन भारतीय इतिहास-लेखन में जगत के नानात्व एवं आम लोगों के जीवन की आधी व्याधि की उपेक्षा की है।'

इस स्वीकारोक्ति के बाद जीवन को पोषण देने वाली श्रमशील जातियों और उत्पादन कर्म की गरिमा को हीन ठहराने वाले संगठित एवं धर्मसम्मत प्रयासों का विश्लेषण हमारे लिए और अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है। भारत की इतिहास दृष्टि 'जीवन के सारतत्त्व' की खोज में आम जन की आधी व्याधियों की उपेक्षा करता आया है। यह वक्तव्य भारत की इतिहास दृष्टि को जीवन के विरोध में खड़ा कर देता है। इस तरह जिस प्रकार का समाज और संस्कृति निर्मित हुई है उसका कठोर आलोचनात्मक मूल्यांकन आवश्यक हो जाता है। यह मूल्यांकन असल में ओबीसी दलित आदिवासियों के ही नहीं बल्कि समस्त भारत के श्रम और उत्पादक प्रयासों को हीन ठहराने के षड्यंत्र और मूल्यांकन के विश्लेषण की भी माँग करता है। यही विश्लेषण महिषासुर-विमर्श का अनिवार्य आधार और प्रेरणा है।

10. 'प्राचीन सनातन परम्परा में ... समानांतर दृढ़ कर्मवाद'।[29]

लेखकद्वय ने यहाँ सात विरोधाभास गिनाए हैं ये नोट करने योग्य हैं क्योंकि आम्बेडकर और फुले की विचार पद्धति में इन विरोधाभासों को रिडल्स की संज्ञा दी गयी है।[30] ये सात विरोधाभास इस तरह गिनाए गये हैं :

1. काल के सूक्ष्मतम अंश और युगों मन्वंतरों का उल्लेख
2. भीषण युद्धों के बीच तत्त्वचिंतन की उपस्थिति
3. निस्पृहता एवं त्याग की गाथाओं के बीच वैभव-विलास की कहानियाँ
4. देवत्व से बराबरी की चाहत और अधम जातीय विद्वेष एवं दुराग्रह
5. जड़-आत्मवाद से पूर्ण इतिवृत्तों के मध्य उच्च दार्शनिक तत्त्ववाद का वृत्तांत
6. बहुदेववाद के विस्तार के बीच एकत्ववाद के प्रति निष्ठा, और
7. प्रचण्ड नियतिवाद के समानांतर दृढ़ कर्मवाद।

11. लेखकद्वय आगे बतलाते हैं कि इन्हीं विरोधाभासों के कारण भारतीय इतिहास-लेखन आज भी सभी सम्प्रदायों के लिए स्वर्ग बना हुआ है। एक ऐसा स्वर्ग जिसमें किसी भी तरह के निष्कर्ष तक पहुँचने के लिए कल्पना के घोड़े दौड़ाने की ज़रूरत है।

यह भी एक मज़ेदार स्वीकारोक्ति है। यहाँ ओबीसी और दलितों आदिवासियों द्वारा यह पूछा जाएगा कि इतिहास के ये विरोधाभास किसने और क्यों बनाए हैं? कल्पना के घोड़ों को दौड़ाने का अवकाश किसने और क्योंकर निर्मित किया है? किन लोगों ने ये घोड़े सबसे पहले दौड़ाए थे और पूरे पौराणिक और मिथकीय आख्यानों में ये जो घोड़े दौड़ रहे हैं इन घोड़ों की पीठ पर किनके हित सवारी करते रहे हैं? निश्चित ही ये घोड़े ब्राह्मणवाद के घोड़े हैं जो इन सारे विरोधाभासों से पुष्ट होते हुए वर्णाश्रम धर्म की महान सेवा कर रहे हैं। किसी पुराण में शिव सर्वेसर्वा हो जाते हैं और किसी अन्य

---

[29] वही.

[30] भीमराव आम्बेडकर (2014).

पुराण में वे विष्णु के भक्त हो जाते हैं तो किसी अन्य में वे विष्णु के शत्रु और विष्णु अवतार संहारक हो जाते हैं। शरभ अवतार की कथा यहाँ उल्लेखनीय हैं। एक अन्य कथा में एक-दूसरे पराक्रमी देवता बचपन की अबोध अवस्था में सूर्य को निगल लेते हैं लेकिन उन्हीं की पूँछ में उनके युवा और प्रौढ़ होने पर मामूली-सी मशाल से आग लग जाती है। इस तरह के विरोधाभास किसने बनाए हैं? और क्यों बनाए हैं? निश्चित ही ये उदाहरण इतिहास के नहीं बल्कि मिथकों के हैं, लेकिन चूँकि हमारा विषय ही मिथकों का पुनर्पाठ है तो इन उदाहरणों को यहाँ रखा जाना उचित है।

12. 'अत: मात्र विकृतियों को ...। खोजना व्यर्थ है'।[31]

लेखकद्वय यह भी आग्रह करते हैं कि संस्कृति की बजाय विकृति को आधार बनाकर विश्लेषण नहीं किया जाना चाहिए। इसे उन्होंने 'मैकियावेलियन ऐनेलिसिस' समझा है। उनके इस आग्रह को किस तरह समझा जाए? एक बीमार समाज को उसके स्वास्थ्य के विश्लेषण की आवश्यकता है या उसकी बीमारी के विश्लेषण की आवश्यकता है? संस्कृति और विकृति का विश्लेषण असल में स्वास्थ्य और बीमारी के विश्लेषण जैसा ही है। महिषासुर-विमर्श का आरम्भ ही इस बिंदु से हुआ है कि भारत का यह समाज एक बीमार समाज है इसकी संस्कृति असल में हज़ारों विकृतियों का समुच्चय है जिसे संस्कृति का नाम दे दिया गया है। भयानक रूप से शोषण भेदभाव और दमन को धर्मसम्मत ढंग से पीढ़ी दर पीढ़ी चलाए रखने वाले किसी ऐतिहासिक प्रवाह को किस अर्थ में संस्कृति माना जा सकता है? अगर मान भी लिया जाए तब विकृति की परिभाषा कैसे की जा सकेगी?

13. आगे लेखकद्वय कहते हैं कि 'औद्योगिक सभ्यता के साथ जिस राजनीतिक-आर्थिकी का उदय हुआ है उसकी विश्वदृष्टि को प्राचीन भारत में खोजना व्यर्थ है'।

यहाँ बहुजन पुन: यह पूछेंगे कि यह खोज क्यों व्यर्थ है? निश्चित ही वह दृष्टि न सिर्फ़ भारत के ज्ञात इतिहास-लेखन में अनुपस्थित या कमज़ोर ढंग से मौजूद है बल्कि विश्व की अनेक सभ्यताओं के इतिहास में भी उसका यही हाल है, इसीलिए आधुनिक पश्चिमी समाज ने एक नवीन और वैज्ञानिक इतिहास-बोध सहित विश्वदृष्टि का निर्माण किया और अपने ही प्राचीन समाजों में उन्होंने इस विश्वदृष्टि के कई सूत्र खोज निकाले हैं। लेकिन इसका क्या अर्थ है? क्या भारत के ज्ञात इतिहास में इसके वहाँ अनुपस्थित या कमज़ोर ढंग से उपस्थित होने से इस दृष्टि की खोज के प्रयास आत्यंतिक रूप से व्यर्थ हो जाते हैं? अगर मलेरिया के जीवाणु की खोज इतिहास में नहीं हो सकी थी तो क्या आज के जागरूक समय में प्राचीन काल में होने वाले ज्वरों का विश्लेषण जीवाणु विषाणु के आधार पर करना ग़लत हो जाता है? कैसे ग़लत हो जाता है?

14. लेखकद्वय आगे यह भी लिखते हैं कि 'प्रत्येक प्राचीन समाज की भाँति प्राचीन भारतीय समाज एक सावयावीय समाज है जिसमे अधिकांश अंतर-वैयक्तिक एवं अंतर-सामाजिक संबंध प्रत्यक्ष संबंध जैसे होते हैं। ऐसे समाजों में संबंधों के आदर्श एवं संबंधों के व्यवहार पक्ष के मध्य अंतर - आधुनिक समाजों की अपेक्षा अत्यंत कम होते हैं'।[32]

क्या भारतीय समाज में आदर्श और व्यवहार के बीच के अंतर पर की गयी इस टिप्पणी को सच माना जा सकता है? क्या भारत में अंतर-वैयक्तिक या अंतर-सामाजिक संबंधों का कोई एक आदर्श पक्ष या स्वरूप है? क्या लेखकद्वय का यह कथन अपने ही पूर्व कथनों (जिनमें विरोधाभासों की बात की गयी है) के विपरीत नहीं है? यहाँ सरल उदाहरण भी दिये जा सकते हैं। क्या विवाह से जुड़े संबंधों का कोई आदर्श पक्ष है? क्या एकपत्नीव्रत के आदर्श बन चुके राम और उनके अपने-अपने पिता के बहुविवाह के बीच कोई तुलना हो सकती है? क्या इस उदाहरण में लेखकद्वय यह समझा

---

[31] अम्बिकादत्त शर्मा एवं विश्वनाथ मिश्र (2017) : 4.

[32] वही.

सकेंगे कि यह अंतर 'अत्यंत कम' होने की बजाय इतना अधिक क्यों है? दूसरा उदाहरण लेते हैं, आदर्श स्थिति में वर्णों के बीच गुणों के आधार पर पदानुक्रम है। लेकिन यह पूछा जाना चाहिए कि गुणों के पदानुक्रम को सुनिश्चित करने के लिए गुणों की माप और उनका श्रेणीकरण व्यवहार में किस तरह किया जाता था? क्या व्यवहार में एक गाँव में जन्मे सौ बच्चों के गुण अवगुण मापने के लिए उनसे एक जैसी परीक्षा ली जाती थी? और ऐसे किसी परीक्षा के पहले उन्हें एक जैसी स्थितियों और सुविधाओं में परीक्षा की तैयारी के अवसर दिये जाते थे? एक चर्मकार या यादव का बच्चा अपने दलित या शुद्र पिता के घर में पलते हुए एक ब्राह्मण के बच्चे से किस तरह से शिक्षा और पठन-पाठन में प्रतियोगिता करेगा? तब इन वर्णों के बीच आदर्श और व्यावहारिक संबंधों के बीच अंतर के होने और न होने की व्याख्या कैसे होगी?

15.'प्राचीन भारतीय इतिहास ....पिरोया गया है'।[33]

ये भी मज़ेदार वक्तव्य है कि भारत में स्त्री-पुरुष दोनों को सत, रज, तम के आधार पर वर्गीकृत किया गया है। इसमें भी आगे उत्तम, मध्यम और निम्न श्रेणी का आंतरिक वर्गीकरण किया गया है। इस तर्क में आगे जाएँ और भारत में प्रचलित विस्तारित कर्म सिद्धांत और उससे जुड़े भाग्यवाद में प्रवेश करें तो यह पता चलता है कि ये तीन गुण और इनकी तीव्रताएँ जन्म के पहले ही तय हो जाती हैं। 'सनातन आत्मा' के संस्कार उसके अगले जन्म में भी जाते हैं इसलिए एक यादव या अहीर का बच्चा अपने वर्ण या जाति विशेष में पैदा होने मात्र से ही सत और रज से हीन हो जाता है और तमोगुण का स्वाभाविक अधिकारी बन जाता है। इसीलिए वह शूद्र है। वहीं एक अन्य 'सनातन अनश्वर आत्मा' जो अपने कई जन्मों के सात्विक संस्कार लिए किसी ब्राह्मण के गर्भ में प्रविष्ट हुई है, वह जन्म के पूर्व ही सतोगुण की 'सर्वोच्च तीव्रता' से युक्त हो जाती है। यह भारत के वर्णाश्रम धर्म का ढंग है मनुष्य को परिभाषित और वर्गीकृत करने का।

16.'पंचम आज भी ....अपना विकास किया है'।[34]

यहाँ कहा जा सकता है कि सभी जातियाँ वन्य जातियाँ ही थीं, यह सच है। लेकिन इनमें से सबसे पहले कृषि और नगरीय सभ्यता का विकास करने वाली जातियों को जिन घुमंतू शिकारी जातियों ने हिंसा के बल से ग़ुलाम और बाद में अछूत बनाया, उसके विस्तार को तार्किक ढंग से समझ लेने के उपरांत उन जातियों के रचे गये धार्मिक क़ानूनों और मिथकों के प्रति हमें क्या मुद्रा अपनानी चाहिए?

17.'चतुर्थ, प्राचीन भारतीय इतिहास ... पिरोया गया है'।[35]

यह भी एक विचित्र वक्तव्य है। जाति में टूटने के बाद राष्ट्र कैसे उभरता है? जाति का निर्माण ही इसलिए हुआ है कि पहले से ही मौजूद या किसी सम्भावित राष्ट्रीय चेतना का गर्भपात किया जा सके। अगर यहाँ जाति से अभिप्राय कास्ट नहीं बल्कि जन समुदाय या कौम है तो भी जन से जाति का विकास असल में एकता का विकास है या अलगाव में पतन है? अगर लेखकों के दावे को सही मानें तो यह पूछा जाना चाहिए कि इस लम्बी इतिहास यात्रा में भारत में राष्ट्र कब और कहाँ विकसित हुआ? अशोक के बाद और अकबर के पहले यह राष्ट्र या एक राजनीतिक इकाई कहाँ था? जब राजनीतिक व्यवस्था ब्राह्मणवादी मिथकों के प्रभाव में थी तब यह राष्ट्र कहाँ था? क्या वास्तव में राष्ट्र निर्माण हुआ था? तब उसका स्वरूप क्या था?

---

[33] वही.

[34] वही.

[35] वही.

18. 'भारतीय इतिहास-दृष्टि ... ग़ायब हो जाते हैं'।[36]

निश्चित ही इन पाँच बिंदुओं की उपेक्षा नहीं की जा सकती। यह सत्य है लेकिन इसलिए नहीं कि ये बिंदु किसी इतिहास लेखक को भारत के इतिहास को समझने में मदद करते हैं बल्कि इसलिए कि ये बिंदु भारत में इतिहास-लेखन की सम्भावना को ख़त्म करने के षड्यंत्र को समझने में मदद करते हैं। ये पाँच बिंदु सिलसिलेवार ढंग से बताते हैं कि ब्राह्मणवाद ने व्यवहार और आदर्श सहित त्रिगुणों और जातियों की बहस से इतिहास-बोध को मिथक-बोध की बाढ़ में डुबाकर कैसे ख़त्म किया है।

19. 'इस तरह की गोपनीयता ... करना चाहिए था'।[37]

इस तरह की गोपनीयता या वैशिष्ट्य बनाए रखना उस समय सभी समुदायों में प्रचलित था ...। विशेष रूप से कोइतूर समाज की विशिष्ट गोत्र प्रणाली शिल्पों और श्रम की विशिष्टता पर आधारित थी ...। यही कालांतर में परम्परागत व्यवसाय के रूप में जाति की अवधारणा में बदलकर जड़ बना दी जाती है। ब्राह्मणवाद ने पहले से मौजूद इस व्यवस्था को अपने वर्ण हित के लाभ हेतु इस्तेमाल करते हुए इसे अमर कर दिया।

20. 'एम.एन श्रीनिवास ...। किया जा सके'।[38]

यह राजीव मल्होत्रा जैसे लोगों का पसंदीदा तर्क है।[39] इससे यह बात तो समझी जा सकती है कि आधुनिक समय में यह द्विभाजन सम्भवत: कैसे आया होगा, लेकिन यह तर्क इस बात को नहीं समझा सकता कि तीन सौ साल के संक्षिप्त कार्यकाल में अंग्रेज़ों ने इतने बड़े भारत (याद रहे तब भारत, पाकिस्तान और बांग्लादेश एक ही देश थे) के एक-एक गाँव में गली-मोहल्ले में प्रवेश करके न सिर्फ़ लोगों को भयानक जातिवाद और आदिवासियों से घृणा करना सिखा दिया, बल्कि उनके शास्त्रों और कर्मकाण्डों को भी बदल दिया। अगर राजीव मल्होत्रा जैसे लोगों के इस तर्क में जाएँ तो असल में वे अंग्रेज़ों को किसी मायावी मिथकीय दैत्य की तरह चित्रित कर रहे हैं और उन्हें बहुत अधिक शक्ति और सामर्थ्य दे रहे हैं। अंग्रेज़ों को इतना महत्त्व देने की ज़रूरत क्यों है? निश्चित ही यह अपने शास्त्रों, अपने धर्म और अपने इतिहास-बोध सहित अपनी नैतिकता-बोध की कमज़ोरियों को दूसरों के मत्थे मढ़ने का सनातनी प्रोजेक्ट है। यह ठीक वही मिथकीय पाखण्ड दृष्टि है जिसमें गाँव के कुएँ के सूख जाने का ठीकरा किसी बाँझ स्त्री पर फोड़ा जाता है या किसी ब्राह्मण के किशोर पुत्र की मृत्यु का बदला एक शूद्र तपस्वी से लिया जाता है।

21. 'यही कारण है कि... उजागर किया गया है'।[40]

निकोलस डर्क्स का यह उद्घाटन महत्त्वपूर्ण है लेकिन यह उद्घाटन इस देश के व्यापक मनोविज्ञान की पूरी व्याख्या नहीं कर पाता। अगर यह माना जाए की तत्कालीन दशाओं में भी हिंदुओं और आदिवासियों में पवित्रता और प्रदूषण जनित भेदभाव था, तब उसे देखते हुए ही अंग्रेज़ इस विभाजन को प्रशासनिक कार्यवाही का आधार दे पाए होंगे। अंग्रेज़ों ने कभी राजपूतों और ब्राह्मणों के बीच या ब्राह्मणों और वैश्यों के बीच ऐसे प्रशासनिक उपायों से इस तीव्रता का और इस तरह का निर्णायक भेदभाव क्यों नहीं रचा? स्पष्ट है कि इन समुदायों या वर्णों के बीच वर्ण व्यवस्था के पदानुक्रम में जो संबंध बना दिया गया था उससे और उसके उपयोग की सम्भावना से वे संतुष्ट और आश्वस्त थे।

22. 'वन्य जातियाँ यदि....असुर रह जाते हैं'।[41]

यहाँ असल दुर्भाग्य नज़र आता है। बाज़ार और आधुनिकता की आड़ में फिर से जाति और वर्ण

---

[36] वही.

[37] अम्बिकादत्त शर्मा एवं विश्वनाथ मिश्र (2017) : 6.

[38] वही : 7.

[39] राजीव मल्होत्रा (2011).

[40] अम्बिकादत्त शर्मा एवं विश्वनाथ मिश्र (2017) : 7.

[41] वही.

के सनातन खेल को छुपा लिया जाता है। इसी आधुनिकता और बाज़ार ने शेष विश्व में वर्ग चेतना पैदा की और वे समाज, समाजवाद और लोकतंत्र की कल्पना और रचना कर सके। लेकिन भारत में वर्ग चेतना पर वर्ण चेतना और जाति चेतना इतनी हावी रहती आयी है कि यहाँ सामूहिक या साझे हितों की कल्पना ही आकार नहीं ले सकी है। क्या इसकी जिम्मेदारी भी आधुनिकता और बाज़ार पर डाली जाएगी? यहाँ यह नोट करना ज़रूरी है कि हर समस्या को मुग़लों, तुर्कों, अंग्रेज़ों और आजकल बाज़ारवाद के मत्थे थोप देना कोई नयी बात नहीं है। यह सनातन लीला है। भारत में प्रबल रूप में ऐतिहासिक ढंग से इस तरह के प्रयासों का सातत्य बना हुआ है। न केवल भौतिक विज्ञान के स्तर पर कार्य–कारण नियम की समझ यहाँ विकिसत नहीं हो सकी है बल्कि अध्यात्म या मनोविज्ञान के जगत में भी कर्म सिद्धांत की प्रचलित व्याख्या के द्वारा कार्य कारण सिद्धांत के मूल दर्शन को ही ख़त्म कर दिया गया है।

23.'साथ ही आधुनिकता....एक तर्क प्रणाली है'।[42]

यह आधुनिकता और बाज़ार 'इस अर्थ' में दलितों ओबीसी और आदिवासियों ही नहीं बल्कि दलित ईसाइयों और दलित मुसलमानों के आख्यानों को उभारने में मदद करेगा। इस आधुनिकता और बाज़ार की अनुपस्थिति में वर्णगत आरक्षण और वर्ण माफ़िया ने जिस तरह का इतिहास–बोध और विमर्श चलाया है उसे अब ठीक से चुनौती दिये जाने का समय और अवकाश निर्मित हो रहा है। जिस तरह भारत में विदेशी आक्रांताओं के शासन में ब्राह्मणवाद की पकड़ ढीली होने पर भारत के ओबीसी, आदिवासियों और दलितों को मनुष्यों की तरह जीने का अवसर मिला है उसी तरह आज भी पाश्चात्य इतिहास–दृष्टि और विमर्श के आक्रमण से ब्राह्मणवादी और सनातनी पाखण्ड दृष्टि की पकड़ कमज़ोर हुई है और महात्मा फुले, आम्बेडकर और पेरियार जैसे विद्वानों को अपनी बात रखने का अवसर मिला है।

यह सत्य है कि आधुनिकता और बाज़ार की अपनी समस्याएँ हैं, लेकिन इन्हें इस तरह ब्राह्मणवाद या सनातनी धर्म की कमज़ोरियों को छुपाने वाले उपकरण की तरह इस्तेमाल करना निंदनीय है। ऐसा करते हुए हमारे 'स्वदेशी इण्डोलॉजी' वाले विद्वान सम्भवत: यह घोषणा कर रहे हैं कि वे और उनके पूर्वज इस देश के लिए मौलिक समाधान तो क्या मौलिक समस्याएँ भी नहीं पैदा कर सके हैं। हमें समस्याएँ पैदा करने के लिए भी विदेशी आक्रमणकारी चाहिए। तब प्रश्न उठता है कि इतना बड़ा देश इतने लम्बे इतिहास में कर क्या रहा है?[43]

24.'यद्यपि आर्य आक्रमण....साबित नहीं हो सका है'।[44]

इनन्ना या इश्टर का मिथक ही आर्यों द्वारा रचित दुर्गा के मिथक का मूल है। इस बात की पूरी सम्भावना है कि प्राचीन भारत में किसी देवी, मातृ देवी या वन्य देवी से जुड़े मिलते–जुलते मिथक रहे होंगे। लेकिन हमारे लिए यहाँ यह महत्त्वपूर्ण है कि आर्य–अनार्य संघर्ष के बाद कालांतर में आर्य भारत में घुसपैठ करते हुए इस मिथक में आर्य या ब्राह्मण आधिपत्य को बढ़ाने के लिए मनचाहे रंग भरते हैं और स्थानीय सूचनाओं और प्रवृत्तियों को इसमें अपनी सुविधा से मिलाते जाते हैं। यह काम आज भी जारी है। शिर्डी के साईं एक नवीन घटना हैं, लेकिन उनसे जुड़े मिथक भी आकार लेने लगे हैं। लोग जिस तरह से उनकी प्रशस्तियाँ गाते हैं उनमें साईं ब्रह्मा विष्णु महेश से भी बड़े बना दिये जाते हैं। यही प्रवृत्ति हम कबीर से जुड़े मिथकों और आख्यानों में भी देखते हैं जहाँ कबीर को ब्रह्मा का पिता या सृष्टि का आदि कारण बताकर पेश किया जाता है।

25. 'यदि ऐसा हुआ ....महादेव बन जाते हैं'।[45]

यहाँ पुन: नोट किया जाए कि देवी के बिम्ब को स्थानीय पहाड़ी देवियों से उठाकर निर्मित किया

---

[42] वही.

[43] वही.

[44] अम्बिकादत्त शर्मा एवं विश्वनाथ मिश्र (2017) : 8.

[45] वही.

गया है और उसमे इनन्ना की मिलावट की गयी है। महादेव को पूज्य बनाना आर्यों की मजबूरी थी, महादेव के अनुयाइओं की विराट संख्या को समाप्त करना सम्भव न था इसलिए एक विशेष रणनीति के तहत उन्हें पहले घृणा का पात्र बनाने का प्रयास किया गया लेकिन जब इस प्रयास के बावजूद सफलता नहीं मिली तो उन्हें मजबूरी में पूज्य बनाकर अपनी देव मण्डली में शामिल कर लिया गया। यही काम गणेश के साथ भी किया गया है। इसी मजबूरी के चलते महादेव और गणेश (आरम्भिक गणेश) को वीभत्स बनाया गया है जबकि आर्यों के इंद्र और विष्णु राजपुरुषों की तरह शृंगार धारण किये हैं।

26. 'जहाँ वह कहता है... बताने में नहीं'।[46]

पुराण की दृष्टि और उसका रहस्यवादी सम्मोहन अपने काव्य-बोध में भले ही महान नज़र आता हो लेकिन इस दृष्टि के विरोध में सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि यह अद्वैत दृष्टि चार वर्णों और हज़ारों जातियों सहित स्त्री पुरुष में अद्वैत क्यों नहीं देख पाती? यही कृष्ण जब स्त्रियों और शूद्रों को पाप-योनि कहते हैं तब शूद्र अशूद्र में अद्वैत क्यों नहीं देख पाते? या और अधिक नहीं तो स्त्री पुरुष में अद्वैत देख लेते तो कम से कम शास्त्रकारों की अपनी माताएँ-पुत्रियाँ और पत्नियाँ ही 'पाप-योनि' होने के अभिशाप से मुक्त हो जातीं?

27. 'यह सनातन परम्परा...सभ्यता के निर्माता हैं'।[47]

क्या इससे अन्यथा सनातन या कोई अन्य परम्परा कर भी सकती है? क्या दो ईश्वर हो सकते हैं किसी भी ईश्वरवादी परम्परा में?

28. 'आज तो सम्पूर्ण.... आसुरी प्रवृत्ति है?'[48]

यह विचित्र दृष्टि है, यहाँ तर्क दिया जा रहा है कि आधुनिक जीवन अनैतिक और ग़ैर-ज़िम्मेदार है। ठीक से देखें तो प्राचीन जीवन भी इसी तरह का रहा है। उस जीवन और समाज में इससे भी अधिक अनैतिकता थी, वह संगठित और शास्त्रोक्त अनैतिकता थी और इतना ही नहीं बल्कि यह अनैतिकता ही भारत का धर्म बन चुकी थी। प्रदूषण और प्राकृतिक सम्पदा के उपभोग को देव प्रवृत्ति और असुर प्रवृत्ति से जोड़ना हास्यास्पद है। देव प्रवृत्ति के सिरमौर कृष्ण ने जब अर्जुन को युद्ध के लिए तैयार किया था तब क्या वे महाविनाश की तैयारी नहीं कर रहे थे? उस समय जब अर्जुन वैराग्य लेना चाहता था तब क्या उसमें आसुरी प्रवृत्ति जाग उठी थी? अगर आज परमाणु अस्त्रों का भय न होता तो सम्भवत: इस देव और आसुरी प्रवृत्ति की चर्चा उठाने की ज़रूरत न रह जाती।

29. 'यदि यह आसुरी ... शरण में जाना है?'[49]

योगशास्त्र और भारतीय संन्यास की धारणा के अनुसार महिषासुर या शिव योगभ्रष्ट नहीं माने जा सकते। वे यौन वैरागी या ब्रह्मचारी हैं ही नहीं, वे तो आरम्भ से ही गृहस्थ हैं। कोइतूर गोण्ड समाज में ब्रह्मचर्य कोई मूल्य कभी नहीं रहा, इसलिए यहाँ असुरों या महिषासुर या शिव के संदर्भ में आर्यों के शब्द 'योगभ्रष्ट' का कोई मूल्य नहीं है ठीक उसी तरह जिस तरह आर्यों के लिए कोइतूरों के शब्द 'घोटुल' या 'फडा-पेन' का कोई मूल्य नहीं है। महिषासुर पर मातृसत्ता उन्मूलक होने का आरोप हास्यास्पद है। कोइतूर या असुर संस्कृति के पराभव के बाद भी उनमें मातृसत्तात्मक व्यवस्था रही है और स्त्री के अधिकारों की सशक्त प्रतीति आज तक बनी हुई है। यही प्रतीती ओबीसी (शूद्रों) और दलितों में भी स्पष्ट नज़र आती है लेकिन आर्यों में यह एकदम अनुपस्थित है। इसे समझने के लिए

[46] वही.
[47] वही.
[48] अम्बिकादत्त शर्मा एवं विश्वनाथ मिश्र (2017) : 9.
[49] वही.

तलाक़ और पुनर्विवाह संबंधी शूद्रों (ओबीसी) दलितों, आदिवासियों और सवर्ण हिंदुओं के सामाजिक नियमों का अध्ययन किया जा सकता है। सती प्रथा और जौहर प्रथा मातृसत्तात्मक समाज की नहीं बल्कि पितृसत्तात्मक और स्त्रीविरोधी परम्परा में होती है। यह आदिवासियों, असुरों या कोइतूर (गोण्डों) में नहीं पाई जाती। कोइतूर संस्कृति में दुर्गावती आदर्श हैं जो युद्ध करती हैं, वे रानियाँ नहीं जो कि असहाय होकर जौहर करती हैं।

30. 'यही हाल ...व्यवस्था की'।[50]

ईमानदार विमर्श जो कि किसी ऐतिहासिक रूप से शोषित समुदाय के हित चिंतन से प्रेरित है उससे संस्कृति के ऐसे महिमामण्डन की अपेक्षा करना एक भारी भूल है। अब तक होते आये महिमामण्डन ने इस देश को पराजय, ग़ुलामी, अंधविश्वास दिया है, निश्चित ही कुछ सार्थक विकास भी हुआ है, लेकिन उस विकास से आगे निकलने के लिए स्वयं उसी विकास को चुनौती देना आवश्यक है, यह थीसिस, एंटीथीसिस और सिंथेसिस की वैज्ञानिक प्रणाली है। यही महिषासुर-विमर्श का उद्देश्य है। शोषित समुदायों के अपने मिथक हैं और अपने आख्यान हैं, वे अगर मिथकीय इतिहास में एक नयी दृष्टि लाने की सम्भावना निर्मित कर रहे हैं तो उन्हें पूरा अधिकार है कि वे वर्तमान और प्रचलित आख्यानों के समानांतर अपने धर्म, अपनी संस्कृति और अपने इतिहास की बहस को मजबूत करते हुए अपने भविष्य का मार्ग बुनें। विशेष रूप से तब जबकि यह स्पष्ट हो चुका है कि तथाकथित मुख्यधारा का यानी अल्पजन विमर्श या इस देश की तथाकथित समन्वयवादियों की संस्कृति उन बहुसंख्य जनों को आज भी अछूत और हेय समझती है।

31. 'देवी भागवत ....आधार पर हो'।[51]

राक्षस शब्द की व्याख्या पर ग़ौर किया जाए। जो रक्षा कर रहा है वह राक्षस है। आक्रमण करने वालों से अपनी रक्षा करना किस अर्थ में ग़लत प्रवृत्ति है? क्या आक्रमण करना शुभ प्रवृत्ति है? ये आर्य देवता इतने हथियार लिए हमेशा आक्रमण को उद्धत क्यों घूम रहे हैं? इसके उत्तर पर विचार करेंगे तो पता चलेगा की इस आसुरी या राक्षसी प्रवृत्ति का देव प्रवृत्ति से जो विरोध दर्शाया गया है उसमें सच्चाई को एकदम शीर्षासन करवाया जा रहा है। असुर और राक्षस अपनी भूमि, वनों, वन्य सम्पदा और अपनी स्त्रियों की रक्षा करते हुए राक्षस बन रहे हैं और सुर या देव सुरा के मद में आक्रमण युद्ध और व्यभिचार में आकंठ लिप्त हैं। यह देव-असुर संग्राम का वास्तविक चित्र है। यह सागर मंथन में भी स्पष्ट होता है कि असुरजन वासुकी का विष भरा भयानक फन पकड़ते हैं और देवगण उसकी पूँछ पकड़ते हुए मंथन कर रहे हैं और मंथन के बाद छल से देवता लोग एक मोहिनी अर्थात् स्त्री को अपना मोहरा बनाकर असुरों से अमृत चुरा लेते हैं। असुर लोग मातृसत्तात्मक होने के कारण स्त्री पर न आक्रमण करते हैं, न ही उसे एक मोहरे या विषकन्या की तरह छल हेतु इस्तेमाल करते हैं। हाँ, उनकी स्त्रियाँ दुर्गावती की तरह साहस और पराक्रम अवश्य दिखाती हैं।

32. 'क्या आतंकवादी ... के साथ हैं'।[52]

ये प्रवचनकार बाबाओं के तर्क हैं जिनमें एक बहुत ही सतही सामान्यीकरण किया जाता है। हिंदू मिथकों से ली जाने वाली शिक्षा का कुल जमा अर्थ ही इतना है कि गहराई में जाए बिना एक मोटा-मोटा सामान्यीकरण कर दिया जाए और दो खाँचों में शुभ-अशुभ को बाँट दिया जाए और पूरी आबादी को वर्णाश्रम धर्म को बनाए रखने योग्य रणनीति सिखाई जाती रहे। सद् प्रवृत्ति और असद् प्रवृत्ति का विभाजन देकर न तो इतिहास समझा जा सकता है, न वर्तमान और न ही मिथक। सद् प्रवृत्ति और असद् प्रवृत्ति के मानक पर इंद्र या अन्य देवताओं के लौकिक कर्मों को समग्रता में देखा जाए तो क्या कोई स्पष्ट निर्णय लिया जा सकता है?

---

[50] वही.

[51] वही.

[52] वही.

33. 'इस विमर्श में ... प्रेरणा और मार्ग मिले'।[53]

निश्चित ही बहुत सी समानताएँ बहुत सी ऐतिहासिक धर्म–दार्शनिक धाराओं में दिखाई जा सकती हैं। लेकिन फुले–आम्बेडकरी दृष्टि पुनः हमें मार्ग दिखाती है कि किनके बीच किस तरह समानता और क्यों दिखाई जाए। सिर्फ़ बुद्धि विलास के प्रदर्शन के लिए नहीं बल्कि वर्तमान के जीवंत समाजशास्त्र के आधार पर जब इतिहास को समझने का उपक्रम किया जाता है तब हमें अधिक स्पष्ट होता है कि किनके बीच समानता दिखानी है या नहीं दिखानी है। निश्चित है कि यह कोई आकस्मिक फ़ैक्टर न होकर एक सुविचारित फ़ैक्टर है जिसे इतिहास को पौराणिक अतीत बना डालने के षड्यंत्र से आम जन को बाहर निकालने के लिए सचेतन रूप से चुना और बुना जा रहा है।

उपसंहार

इस पूरे विस्तार में और इस विस्तार की संगत पृष्ठभूमि में जाने के बाद हम क्या पाते हैं? क्या मिथकों और पुराण कथाओं को इतिहास समझ लेने या फिर इतिहास को मिथकों के आईने में पूरी तरह से समझ लेने के आग्रहों से हम संतुष्ट हो सकते हैं? इस प्रश्न का उत्तर इस बात पर निर्भर करता है कि स्वयं संतोष और असंतोष से हमारा क्या आशय है। एक विराट बहुजन समाज की ऐतिहासिक पीड़ा–कथा को जान और समझ कर जिस तरह के करणीय की अपेक्षा जन्म लेती है उस अपेक्षा को देखते हुए ऐसा बहुत कुछ है जिसे वर्तमान से जोड़कर देखना होगा और उससे उभरने वाले मार्ग पर चलकर अपेक्षित बदलाव करने होंगे। तभी भारत के बहुजन संतोष का अनुभव कर सकेंगे। इसका भी आत्यंतिक लक्ष्य यह होगा कि ऐसे वर्तमान की व्याख्या कर सकने वाले किसी इतिहास–बोध में यह क्षमता भी होनी चाहिए कि वह अतीत के सामाजिक और मनोवैज्ञानिक जीवन का भी पर्याप्त अनुमान उपलब्ध करवा सके।

पुनः यहाँ स्पष्ट करना आवश्यक है कि मिथकों के पुनर्पाठ को अनिवार्य रूप से इतिहास का पुनर्पाठ नहीं माना जाना चाहिए। मिथक स्वयं में इतिहास से पहले और इतिहास के बाद की या इतिहास से परे की रचना के रूप में देखे जा सकते हैं। इनका अनिवार्य संबंध कालक्रम में घटी घटनाओं से कम होता है और ऐसी किन्हीं घटित या कल्पित घटनाओं के समाज मनोवैज्ञानिक उपयोग से अधिक होता है। यह उपयोग कहीं–कहीं सचेतन और संगठित भी हो सकता है जैसा कि हम आर्य ब्राह्मणी परम्परा में प्रबल रूप से देखते हैं और यह बिल्कुल सहज या स्वतः स्फ़ूर्त भी हो सकता है जैसा कि अनेकानेक आदिवासी जनजातियों में पाया जाता है। ऐसे में विशेष रूप से जब हम आर्य ब्राह्मणी मिथकों को एक प्राचीन सभ्यता और संस्कृति को नष्ट करने या विजित करने वाले लोगों द्वारा निर्मित मिथकों के रूप में देखते हैं तब हमें कुछ अतिरिक्त सावधानियाँ बरतनी होती हैं। तब हमें मिथक की संरचना के साथ ही उस मिथक के पीछे छिपे वर्ण या समुदाय विशेष की सत्ता और आधिपत्य की प्रबल इच्छा को भी ध्यान में रखना होगा। यही बात ब्राह्मणी मिथकों को अन्य स्वतः स्फूर्त मिथकों की तुलना में भिन्न बनाती है।

ऐसे में अब जबकि ब्राह्मणी मिथकों के अलावा शूद्र, दलित या बहुजन या मूल निवासी जनों (अर्थात् बहुजनों) के मिथक अपनी उपस्थिति दर्ज करा रहे हैं तब हमें इतिहास के तटस्थ विमर्श के आग्रहों को इन उलझे हुए मिथकों के विमर्श पर थोपने से बचना चाहिए। यह सावधानी बहुजन या मूल निवासी खेमों से आने वाले लेखकों को भी रखनी होगी और इन लेखकों की प्रस्तावनाओं का मूल्यांकन करने वाले अन्य विद्वानों को भी रखनी होगी। मिथक विमर्श को या मिथकीय पुनर्पाठ को यह नाम इसीलिए मिल रहा है क्योंकि यह इतिहास का विमर्श नहीं बल्कि मिथकों का विमर्श है।

[53] अम्बिकादत्त शर्मा एवं विश्वनाथ मिश्र (2017) : 13.

मिथकों में किसी भी क्रमबद्ध इतिहास की खोज करना या 'किसी खोज' के दावे का मूल्यांकन करते हुए ऐसे किसी इतिहास के न पाए जाने को एक बड़ी उपलब्धि बताना— ये दोनों ही भ्रांत प्रयास हैं। इन प्रयासों से दोनों ख़ेमों को बचना होगा। इतिहास और मिथकों के अंतर्संबंध पर अधिक से अधिक अभी इतना ही कहा जा सकता है कि इतिहास और पुरातत्त्व की ज्ञात खोजों का वर्तमान भारत की सामाजिक संरचना और समाज मनोविज्ञान को समझने और समझाने में जितना उपयोग किया जा सकता है उतनी दूर तक ही उनके अंतर्संबंधों की सार्थकता को वरण करना उचित होगा। लेकिन इन सबके बीच भारत के ऐतिहासिक रूप से सताए गये बहुजनों की गुलामी सहित सम्भावित सामाजिक मुक्ति के सूत्र जिन मिथकीय आख्यानों में या ऐसे आख्यानों के प्रतिपक्षों में उजागर हो सकते हैं, उन आख्यानों की खोज और विश्लेषण को भी जारी रखना होगा।

संदर्भ

अम्बिकादत्त शर्मा एवं विश्वनाथ मिश्र (2017), 'मिथकीय आख्यान और इतिहास-बोध', *प्रतिमान समय समाज संस्कृति*, जुलाई-दिसम्बर, अंक 10.

अमर्त्य सेन (2005), *द आर्ग्यूमेंटेटिव इण्डियन : राइटिंग्ज़ ऑन इण्डियन हिस्ट्री, कल्चर ऐंड आइडेंटिटी*, मैकमिलन, नयी दिल्ली.

अरविंद शर्मा (सं.)(2009), *द वर्ल्ड्स रिलीजंस आफ़्टर सेप्टेम्बर 11*, प्रैजर, वेस्टपोर्ट, कनेक्टिकट.

क्लाउड लेवी-स्त्रॉस (1963), *स्ट्रक्चरल ऐंथ्रोपॉलजी*, बेसिक बुक्स, न्यूयॉर्क.

गैविन डी. फ़्लड (2003)(सं.), *द ब्लैकवेल कम्पेनियन टू हिंदुइज़्म*, ब्लैकवेल पब्लिशिंग, मालडेन, एमए.

जी.एम. विलियम्स (2003), *हैंडबुक ऑफ़ इण्डियन मायथॉलॅजी*, सैंटा बारबरा, कैलिफ, एबीसी-क्लिओ.

द्विजेंद्र नारायण झा (2002), *द मिथ ऑफ़ द होली काउ*, वर्सो, लंदन और न्युयॉर्क.

देबीप्रसाद चट्टोपाध्याय (1992), *लोकायत : अ स्टडी इन एंशियेंट इण्डियन मैटेरिएलिज़म*, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.

-------------- (1993), *व्हाट इज़ लिविंग ऐंड व्हाट इज़ डैड इन इण्डियन फ़िलॉसफ़ी*, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.

बर्ट्रेंड रसेल (1945), *अ हिस्ट्री ऑफ़ वेस्टर्न फ़िलॉसफ़ी*, शिमोन ऐंड शुश्टर, न्युयॉर्क.

बी.आर. आम्बेडकर (2014), *कम्प्लीट वर्क्स ऑफ़ आम्बेडकर*, खण्ड-1, डॉ. आम्बेडकर फ़ाउंडेशन, महाराष्ट्र.

बी.एम. सिन्हा (1992), 'इण्डिया टूवड्र्स अ सोशल रिवोल्यूशन', *फ़्यूचर्स*, 24 (9).

मकरंद आर. परांजपे (2012), *मेकिंग इण्डिया : कोलोनियलिज़म, नैशनल कल्चर, ऐंड द आफ़्टर लाइफ़ ऑफ़ इंग्लिश अथॉरिटी*, डोरड्रेख्त, स्प्रिंजर, नीदरलैण्ड्स.

मीरा नंदा (2011), *द गॉड मार्केट : हाउ ग्लोबलाइज़ेशन इज़ मेकिंग इण्डिया मोर हिंदू*, न्यूयॉर्क युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क.

मोतीरावण कंगाली (2011), *पारी कुपार लिंगो पुनेम दर्शन*, चंद्रलेखा कंगाली, 48, उज्ज्वल सोसाइटी, नागपुर.

योह्नेस ब्रोंख़ोर्स्त (2007), *ग्रेटर मगध : स्टडीज़ इन द कल्चर ऑफ़ अर्ली इण्डिया : हैंडबुक ऑफ़ ऑरिएंटल स्टडीज़*, खण्ड 2, संख्या 19, ब्रिल, लीडन तथा न्युयॉर्क.

राजीव मल्होत्रा एवं अरविंदन नीलकंदन (2011), *ब्रेकिंग इण्डिया*, अमैरिलिस पब्लिशर्स, नयी दिल्ली.

रोमिला थापर (2003), *द पेंगुइन हिस्ट्री ऑफ़ अर्ली इण्डिया*, पेंगुइन बुक्स, लंदन.

---------(2013), *द पास्ट बिफ़ोर अस : हिस्टोरिकल ट्रेडीशंस ऑफ़ अर्ली नॉर्थ इण्डिया*, हार्वर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज, मैसाचुसेट्स.

सेवा सिंह (2012), *ब्राह्मणवाद और जनविमर्श*, आधार प्रकाशन, पंचकूला.